॥ श्रीः ॥

तत्त्वबोधः ।

श्रीशंकराचार्य्यप्रणीतः ।



लाँखग्रामनिवासिपण्डित-

मिहिरचन्द्रकृत-

भाषाटीकासमेतः ।

सोयं

क्षेमराज-श्रीकृष्णदासश्रेष्ठिना

मुम्बय्यां

स्वकीये "श्रीवेंकटेश्वर" (स्टीम्) मुद्रणयन्त्रालये

मुद्रयित्वा प्रकाशितः ।

संवत् १९७८, शके १८४३.

॥ श्रीः ॥

तत्त्वबोधः ।

श्रीशंकराचार्य्यप्रणीतः ।



लाँखग्रामनिवासिपण्डित-

मिहिरचन्द्रकृत-

भाषाटीकासमेतः ।

सोऽयं

क्षेमराज-श्रीकृष्णदासश्रेष्ठिना

मुम्बय्यां

स्वकीये "श्रीवेंकटेश्वर" (स्टीम्) मुद्रणयन्त्रालये

मुद्रयित्वा प्रकाशितः ।

संवत् १९७८, शके १८४३.

भूमिका ।

—:o:—

श्रीमद्वेदान्ताचार्यपरमपूज्यपादश्रीशंकराचार्यप्रणीततत्त्वबोधनामकमेतत्प्रकरणम्। एतच्च धर्मार्थकाममोक्षरूपचतुर्विधपुरुषान्तर्गतमोक्षसाधकवेदान्तशास्त्रमारुरुक्षोः पुरुषस्य प्रथमाधिरोहिणीति सर्वजनावगतम् ॥ एतस्य च भाषारसिकसाधारण्येन प्रसिद्धिमीहमानैः क्षेमराज--श्रीकृष्णदासश्रेष्ठिभिर्भाषोद्धृतयेऽहमयोजिषि । मया चैतद्यथामति भाषायामुद्धृत्य विवरणोद्योरर्प्यत इति शम् ॥

लाँखग्रामनिवासी--

काशीस्थराजकीयप्रधानपाठशालापरीक्षोत्तीर्णः,

पण्डितमिहिरचन्द्रशर्मा.

ॐ

तत्त्वबोधः-

भाषाटीकासमेतः।

वासुदेवेन्द्रयोगीन्द्रं नत्वा ज्ञानप्रदं गुरुम्॥मुमुक्षूणां हितार्थाय तत्त्वबोधोभिधीयते॥१॥

नत्वा श्रीचेतनं ब्रह्म जीवत्मैकत्वसिद्धये ॥
तत्त्वबोधस्य भाषायामुद्धारस्तु वितन्यते १ ॥

आरंभ करनेको इष्ट जो ग्रंथ उसकी निर्विघ्न समाप्तिके लिये और शिष्योंकी शिक्षाके अर्थ वासुदेवके स्मरणरूप और वासुदेवनामक अपने गुरुके नमस्काररूप--मंगलको करते हुए ग्रन्थ-कार-ग्रन्थके आरंभकी प्रतिज्ञा करते हैं कि ज्ञानके भलीप्रकार दाता और योगी जनोंमें इंद्र-

रूप जो वासुदेवेंद्र गुरु हैं उनको नमस्कार करके मुमुक्षुओंके हितके लिये तत्त्वबोधको कहते हैं अर्थात् जिसके विचारसे तत्त्वोंका बोध हो ऐसे ग्रन्थको रचते हैं-- और इन श्रुतियोंमें भी वासुदेव रूपही गुरुको कहा है कि, वसे हैं भूत(प्राणी)जिसमें उसे वासु और प्रकाश जो करै उसे देव कहते हैं अर्थात् सब प्राणियोंके आश्रय और संपूर्णजगत्के प्रकाशक ब्रह्मरूप गुरु अथवा पूर्वोक्त ब्रह्मरूप जो श्रीकृष्णचन्द्र--और गुरुगीतामें भी लिखा है कि नित्य--शुद्ध और आभासरहित--निराकार निर्मल और नित्य बोधरूप चिदानन्द ब्रह्मरूप जो गुरु, उनको नमस्कार करता हूँ-गूढ जो विद्या

१ वसंत्यस्मिन्भूतानीति वासुदेवः ।

२ नित्यं शुद्धं निराभासं निराकारं निरञ्जनम् । नित्यबोधं चिदानन्दं गुरुं ब्रह्म नमाम्यहम् ॥ १ ॥ गूढा विद्या योगमाया देहमज्ञानसंभवम् ॥ उदयं स्वप्रकाशेन गुरुशब्देन कथ्यते ॥ २ ॥

वह योगमाया है और यह देह अज्ञानसे उत्पन्नहै इस देहमें जो स्वप्रकाश चेतनका उदय है वही गुरु शब्दसे कहाजाताहै--तात्पर्य यह है कि परब्रह्मरूप योगी जनोंके स्वामी ज्ञानके दाता जो वासुदेवेन्द्र गुरु हैं उनको नमस्कार करनेके अनन्तर मुमुक्षु-ओंके हितार्थ तत्त्वबोध प्रकरणको कहते हैं॥ १॥

साधनचतुष्टयसंपन्नाऽधिकारिणां मोक्षसाधनभूतं तत्त्वविवेकप्रकारं वक्ष्यामः ।

मोक्षके चारों साधनोंसे युक्त जो अधिकारी उनके मोक्षका हेतु जो तत्त्वोंके विवेक (पृथक्‌२ ज्ञान)का प्रकार, उसको कहते हैं--अर्थात् पृथिवी जल तेज वायु आकाश रूप जो पञ्च महाभूत हैं उनमें अभेदरूप (एक) प्रतीत हुआ जो सच्चि-दानन्द जगत्‌का उपादान कारण है वही जीव

भावको तत्त्वोंकी एकतासे प्राप्त होजाता है उसका जो पञ्चभूतोंसे पृथक् ज्ञान वह जिससे हो उस रीतिको कहते हैं ॥

साधनचतुष्टयं किम्॥नित्यानित्य-वस्तुविवेकः ॥१॥ इहामुत्रार्थफल-भोगविरागः ॥२॥ शमादिषट्संप-त्तिः ॥ ३ ॥ मुमुक्षुत्वं चेति ॥ ४॥

अबसे आगे यह ग्रन्थ शंकराचार्यजीने प्रश्न और उत्तररूपसे वर्णन किया है--प्रश्न–वे चारों-साधन कौनसे हैं जिससे युक्त अधिकारियोंको मोक्ष होता है--उत्तर--पहिला साधन नित्य और अनित्य वस्तुका विवेक है अर्थात् नित्य अनित्य वस्तुका पृथक्२ज्ञान है- १। दूसरा साधन इस लोक और परलोकके जो पदार्थ और फल उनके भोगों विरागका है अर्थात् दोनो लोकोंके भोगों

त्यागका २। तीसरा साधन शम आदि जो छः पदार्थ हैं उनकी संपत्ति (सिद्धि) है ३। चौथा साधन मुमुक्षुत्व है अर्थात् मोक्षकी अभिलाषा है ४। ये चारों मुक्तिके हेतु हैं ॥

नित्यानित्यवस्तुविवेकः कः। नित्यवस्त्वेकं ब्रह्म तद्व्यतिरिक्तं सर्वमनित्यम्। अयमेव नित्या-नित्यवस्तुविवेकः ॥

प्र०--नित्य और अनित्य वस्तुका विवेक क्या है--उ०--नित्य (सत्य) वस्तुरूप एक ब्रह्महीं है उस ब्रह्मसे भिन्न संपूर्ण जगत् अनित्य (मिथ्या वा असत्)है-यही नित्य अनित्य वस्तुका विवेक कहाता है और यही सब कारणोंमें मुख्य है ॥

विरागः कः। इह स्वर्गभो-गेषु इच्छाराहित्यम् ॥

प्र०--विराग क्या है-उ०-इस लोक और स्वर्ग आदि परलोकके भोगोंकी इच्छाका त्यागअर्थात् हृदयमें दोनों लोकोंके विषयभोगकी वासनाका उदय न होना, विराग कहाता है ॥

शमादिसाधनसंपत्तिः का। शमो दम उपरमस्तितिक्षा श्रद्धा समाधानं चेति ॥

प्र०--शम आदि छः साधनोंकी संपत्ति क्या है अर्थात् वे शम आदि छः साधन कौन हैं जिनसे कि संपत्ति(होना) मोक्षका हेतु है--उ०--शम--दम उपरम-तितिक्षा--श्रद्धा--समाधान इन छः साधनोंके होनेको शमादि षट्ट संपत्ति कहते हैं ॥

शमः कः । मनोनिग्रहः ॥ दमःकः। चक्षुरादिबाह्येन्द्रियनिग्रहः॥उपरमः कः॥स्वधर्मानुष्ठानमेव॥तितिक्षा का ।

शीतोष्णसुखदुःखादिसहिष्णुत्वम् ॥ श्रद्धा कीदृशी । गुरुवेदांतवाक्यादिषु विश्वासः श्रद्धा ॥ समाधानं किम् । चित्तैकाग्रता ।

प्र०--शम किसका नाम है- उ०मनके निग्रह (वशीभूत) करनेको शम कहते हैं--प्र०-दम किसकी संज्ञा है--उ०--नेत्रआदि बाह्य(बाहरकी) इंद्रियोंके निग्रहको दम कहतेहैं--प्र०--उपरम किसको कहते हैं--उ०--अपने धर्मकाही अनुष्ठान करना यहाँ (एव) पदके लिखनेसे ग्रंथकारने यह सूचित कियाहै कि अपने धर्ममें तत्पर होकर शब्द स्पर्श आदि संपूर्ण विषयोंसे चित्तको निवृत्त करना अर्थात् अन्तरात्माके विचारोंमें आरूढ होकर संपूर्ण लौकिक व्यवहारोंसे उपरत (उदासीन) रहना इसका नाम उपरम है--प्र०--तितिक्षा क्या

वस्तु है--उ०--शीत और उष्ण (ठंढ) और तेज और सुख दुःख और मान अपमान आदिको धीरतासे सहना अर्थात् अपनी प्रकृतिके प्रतिकूल (विरुद्ध) शीत आदिकी प्राप्तिके समयमें भी निर्विकार रहना इसको तितिक्षा कहते हैं--प्र०--श्रद्धा किसप्रकारकी होतीहै--उ०--गुरु और वेदांतके जो वाक्य हैं उनमें जो विश्वास(यथार्थबुद्धि) है उसकोही श्रद्धा कहते हैं--प्र०--समाधान क्या कहाता है--उ०--चित्तकी एकाग्रताको समाधान कहते हैं अर्थात् गुरु और वेदान्तके वाक्योंको एकान्तमें बैठकर एकाग्रबुद्धिसे विचारना वा किसी अधिकारीको उपदेश करना इस चित्तकी स्थिरताको समाधान कहते हैं-यह शमआदिछ-की संपत्ति रूप तीसरा साधन मोक्षका है ॥

मुमुक्षुत्वं किम् । मोक्षो मे भूयादितीच्छा ॥

प्र०--मुमुक्षुत्व किसको कहते हैं--उ०--मेरा मोक्ष हो अर्थात् संसारके दुःखोंसे मेरी निवृत्तिहो इस इच्छाका नाम मुमुक्षुता है यह संसार निवृत्त होनेकी इच्छारूप, मोक्षका चौथा कारण है ॥

एतत्साधनचतुष्टयम् । ततस्तत्त्वविवेकस्याधीकारिणो भवंति॥ तत्त्वविवेकः कः । आत्मा सत्यस्तदन्यत् सर्वं मिथ्येति ॥

ये चारी मोक्षके साधन हैं--प्रथम इनकी यत्नसे सिद्धिके अनंतर --मनुष्य तत्त्वविवेकके अधिकारी होते हैं अर्थात् इन चारों साधनोंकी महिमा(बल) से तत्त्वोंसे पृथक् जो आत्मा उसको जान सकते हैं॥ प्र०--तत्त्वविवेक किसको कहते हैं--उ०--आत्मा (जीव ईश्वर) सत्य है तिससे अन्य जो नामरूपात्मक जगत् है वह मिथ्या है इस निश्चयको तत्त्वविवेक कहते हैं ॥

आत्मा कः । स्थूलसूक्ष्मकारणशरीराद्व्यतिरिक्तः पंचकोशातीतः सन् अवस्थात्रयसाक्षी सच्चिदानन्दस्वरूपः सन् यस्तिष्ठति स आत्मा ॥

प्र०--आत्मा किसको कहते हैं-०उ-स्थूल सूक्ष्म-कारण-इन तीन प्रकारके शरीरोंसे भिन्न और अन्नमय आदि पांचकोशोंसे परे और जाग्रत स्वप्न सुषुप्तिरूप तीन अवस्थाओंका जो साक्षी (द्रष्टा) होकर सत् चित् आनंदरूप टिकता है अर्थात् तीनों शरीरोंके बाहिर भीतर स्थित है वही आत्मा है ॥

स्थूलशरीरं किम् । पंचीकृतपंचमहाभूतैःकृतं सत्कर्मजन्यं सुखदुःखादिभोगायतनं शरीरम् अस्ति जायते

वर्धते विपरिणमते अपक्षीयते विनश्यतीति षड्विकारवदेतत्स्थूलशरीरम् ॥

प्र०--स्थूल शरीर किसको कहते हैं-उ०-पंचीकरण किये पांच महाभूतोंने जो किया हो—और उत्तम कर्मोंसे उत्पन्न हो और सुख दुःख आदि भोगोंका आयतन (स्थान) हो अर्थात् जिसमें स्थित होकर जीवात्मा सुख दुखोंको भोगे-और जो शरीररूप है अर्थात् नाशवान् है-और होना अर्थात् वर्तमानकालमें स्थिति और माताके गर्भसे उत्पत्ति–विपरिणाम अर्थात् क्रम २ से बढना वा घटना–और अपक्षय (वृद्ध अवस्थामें थकना) और अन्त अवस्थामें नाशकी प्राप्ति--इन स्थिति आदि छः विकारोंवाला जो है यही स्थूल शरीर है ॥

सूक्ष्मशरीरं किम् । अपंचीकृतपंच-
महाभूतैः कृतं सत्कर्मजन्यं सुखदुः-
खादिभोगसाधनं पंचज्ञानेन्द्रियाणि
पंच कर्मेन्द्रियाणि पंच प्राणादयः
मनश्चैकं बुद्धिश्चैका एवं सप्तदशक-
लाभिः सह यत्तिष्ठति तत्सूक्ष्मश-
रीरम् ॥

प्र०--सूक्ष्म शरीर किसको कहते हैं-उ०-पंची-
करण नहीं किये पांच महाभूतोंसे जो कियागया
हो और उत्तम कर्मसे उत्पन्न हो और सुख दुःख
आदि भोगोंका साधन हो और पांच ज्ञानइन्द्रिय
और पांच कर्मइन्द्रिय और प्राण आदि पांच
और एक मन और एक बुद्धि इन सत्रह १७--
कलाओं सहित जो टिकता है उसको सूक्ष्मशरीर
कहते हैं अर्थात् इन सत्रह तत्त्वोंके समूहका सूक्ष्म
शरीर नाम है ॥

श्रोत्रं त्वक् चक्षुःरसनाघ्राणम् इति-
पंच ज्ञानेन्द्रियाणि ॥ श्रोत्रस्य दिग्दे-
वता। त्वचो वायुःचक्षुषः। सूर्यः। रस-
नाया वरुणः। घ्राणस्य अश्विनौ इति
ज्ञानेन्द्रियदेवताः ॥ श्रोत्रस्य विषयः
शब्दग्रहणम् ।त्वचो विषयः स्पर्श-
ग्रहणम्। चक्षुषोर्विषयः रूपग्रहणम् ।
रसनाया विषयःरसग्रहणम्। घ्राणस्य
विषयः गंधग्रहणम् इति ॥

श्रोत्र–त्वचा–नेत्र–रसना-घ्राण-ये पांच ज्ञान-इन्द्रिय हैं–और इन पांचोंमें श्रोत्रका देवता दिशा है और त्वचाका देवता वायु है और नेत्रोंका देवता सूर्य है रसना (जिह्वा) का देवता वरुण है और घ्राणका देवता अश्विनीकुमार हैं ये पांचों इंद्रि-योंके पृथक्२पांच देवता हैं–और श्रोत्रका विषय

शब्दका ग्रहण है—और त्वचाका विषय स्पर्शका ग्रहण है—और नेत्रका विषय रूपका ग्रहण है। रसनाका विषय रस (खट्टा आदि) का ग्रहण है और घ्राणका विषय गन्धका ग्रहण है—इन पांचों विषयोंको श्रोत्र आदि पांचों ज्ञानइंद्रिय अपनेर देवताओं सहित ग्रहण करती हैं॥

वाक्पाणिपादपायूपस्थानीति पंच कर्मेंद्रियाणि॥ वाचो देवता वह्निः हस्तयोरिंद्रः। पादयोर्विष्णुः। पायोर्मृत्युः।उपस्थस्यप्रजापतिः इति कर्मेंद्रियदेवताः॥ वाचो विषयः भाषणम्। पाण्योर्विषयः वस्तुग्रहणम्। पादयोर्विषयः गमनम्। पायोर्विषयः मलत्यागः उपस्थस्य विषयः आनंद इति॥

वाणी—हाथ—चरण—गुदा—लिङ्ग—ये पांच कर्म-

इन्द्रिय हैं-इन पांचोंमें वाणीका देवता अग्नि है-और हाथोंका देवता इन्द्र है-चरणोंका देवता विष्णु है और गुदाका देवता मृत्यु है-और लिंगका देवता प्रजापति है, ये कर्म इन्द्रियोंके देवता हैं--और वाणीका विषय भाषण (बोलना) है-हाथोंका विषय वस्तुका ग्रहण करना है-चरणोंका विषय गमन करना है-गुदाका विषय मलका त्याग है-और लिंगका विषय विषयभोगका आनंद है इन पांचों विषयोंको अपने २ देवताओंसे युक्त पांचों कर्मइंद्रिय ग्रहण करती हैं ॥

कारणशरीरं किम्। अनिर्वाच्यानाद्यविद्यारूपं शरीरद्वयस्य कारणमात्रं सत्स्वरूपाऽज्ञानं निर्विकल्पकरूपं यदस्ति तत्कारणशरीरम् ॥

प्र०-कारणशरीर किसको कहते हैं-उ०-सच्ची

वा झूठी कहनेमें जो न आवे क्योंकि झूठी कहैं तो मायासे जगत्की उत्पत्ति न बनेगी-सच्ची कहैं तो ज्ञानसे नष्ट न होगी-जैसे रज्जुके सर्पको मिथ्या कहैं तो भय कंप आदि न होंगे और सत्य कहैं तो विचारसे नाश न होगा इससे अनिर्वचनीय है इस प्रकार मायाभी अनिर्वचनीय है अर्थात् न सत्य है न झूठ है केवल भासमात्र है--और अनादि(उत्पत्तिसे रहित) और अविद्या (अज्ञान) रूप-और स्थूलसूक्ष्म दोनों शरीरोंका जो कारणमात्र(बीज) है अपने स्वरूपका अज्ञान और निर्विकल्पकरूप जो है उस मायाको कारणशरीर कहते हैं ॥

अवस्थात्रयं किम् । जाग्रत्स्वप्न-सुषुप्त्यवस्थाः ॥

प्र०--तीन अवस्था कौनसी हैं--उ०--जाग्रत् स्वप्न-सुषुप्ति ये तीन अवस्था हैं ॥

जाग्रदवस्था का । श्रोत्रादिज्ञानेंद्रियैः शब्दादिविषयैश्च ज्ञायते इति यत् सा जाग्रदवस्था । स्थूलशरीराभिमानी आत्मा विश्व इत्युच्यते ॥

प्र०—जाग्रत् अवस्था किसको कहते हैं—

उ०—श्रवण आदि पांच इन्द्रिय और शब्द आदि पांच विषयोंसे जब जानी जांय अर्थात् श्रोत्र-त्वचा-नेत्र-रसना-नासिका इन पांचों ज्ञानेंद्रियोंसे जिस अवस्थामें शब्द,स्पर्श, रूप रस,गंध इन पांचों विषयोंका क्रमसे ज्ञान हो अर्थात् इन इंद्रियोंके द्वारा शब्द आदि स्थूल भोगोंको जीवात्मा जिसमें भोगै-उस अवस्था समयको जाग्रत् कहते हैं-और स्थूल शरीरका अभिमानी जो आत्माहै उसे विश्व कहते हैं और स्थूल भोगोंका भोक्ता यह विश्वरूप आत्मा अपनी जाग्रत् अवस्थासे

भिन्न है क्योंकि अवस्था मिथ्या रूप है और आत्मा चेतन रूप नित्य है ॥

स्वप्नावस्था केति चेत्। जाग्रदवस्थायां यद् दृष्टं यच्छ्रुतं तज्जनितवासनया निद्रासमये यः प्रपंचः प्रतीयते सा स्वप्नावस्था।सूक्ष्मशरीराभिमानी आत्मा तैजस इत्युच्यते ॥

प्र०—स्वप्न अवस्था कौनसी है ऐसा कहोगे तो सुनो उ०—जाग्रत्अवस्थामें जो देखा हो वा सुना हो उसमें उत्पन्न हुई जो वासना आत्मामें संस्कार उससे निद्राके समय जो प्रपंच (जगत्) प्रतीत होता हैं उस स्वप्नके समयको स्वप्नावस्था कहते हैं और यह स्वप्नावस्था सूक्ष्म शरीरमें होती है उस सूक्ष्म शरीरके अभिमानी आत्माको तैजस कहते हैं क्योंकि वासनामयी जो भोग उनका

भोक्ता आत्मा तेजोरूप अपने प्रकाशसे प्रका-
शमान और अवस्थाका साक्षी तैजस है ॥

अतः सुषुप्त्यवस्था का । अहं किमपि न जानामि सुखेन मया निद्रानुभूयत इति सुषुप्त्यवस्था । कारणशरीराभिमानी आत्मा प्राज्ञ इत्युच्यते ॥

प्र०--इसके अनंतर जो सुषुप्ति अवस्था है वह कौनसी है--उ०--मैंने कुछ नहीं जाना मुझे ऐसी सुखसे निद्राका ज्ञान हुआ श्रुतिमें भी लिखा है कि मैं सुखसे सोया कुछ भी न जानता भया अर्थात् आनन्दसे निद्राका अनुभव हुआ-यह अनुभव जिसकालमें होता है उसका नाम सुषुप्ति अवस्था है इसको ही कारणशरीर और आनंद-मय कोश कहते हैं और इस अवस्थाके अभि-

१ आनन्दभुक्चेतोमुखः ।

मानी आत्माको प्राज्ञ कहतेहैं-अर्थात् यह अपने आनन्दरूपके भानसे रहित जो अज्ञान उसका साक्षी है और इंद्रियोंकी सहायताके बिनाही अपनी चेतनतासे वासनामय विषयोंको भली-प्रकार जानता है और भोगता है इसीसे प्राज्ञ कहाता है । श्रुतिमें[1] भी कहा है कि आनन्दका भोक्ता चेतनरूपही सुषुप्ति अवस्थामें है ॥

पंचकोशाः के । अन्नमयः प्राणमयः मनोमयः विज्ञानमयः आनन्दमयश्चेति॥

प्र०--पञ्चकोश कौनसे हैं?उ०-अन्नमय-प्राणमय-मनोमय-विज्ञानमय-आनन्दमय ये पांच कोश हैं अर्थात् चेतनरूप जो आत्मा उसके आच्छादक हैं ॥

अन्नमयः कः ॥ अन्नरसेनैव भूत्वा

१ सुखमहमस्वाप्सं न किंचिदवेदिषम् ।

अन्नरसेनैव वृद्धिं प्राप्य अन्नरूपपृथिव्यां यद्विलीयते तदन्नमयः कोशः स्थूल-शरीरम् ॥

प्र०—अन्नमय कोश किसको कहते हैं—

उ०—अन्नके रससे होकर और अन्नके रससेही बढकर जो अन्नरूप पृथिवीमें ही लीन(नष्ट)हो जाय उस स्थूलशरीरको अन्नमय कोश कहतेहैं॥

प्राणमयः कः। प्राणादिपंचवायवः वागादींद्रियपंचकं प्राणमयः ॥

प्र०—प्राणमय कोश किसको कहते हैं—

उ०—प्राण-अपान-व्यान-उदान-समान ये पांचों प्राण और वाणी आदि पांचों कर्म इन्द्रिय यह प्राणमय कोश कहाता है और यह क्रिया-शक्ति है क्योंकि शरीरमें जितनी क्रिया होती हैं उन सबका कारण प्राणमय कोशही है ॥

मनोमयः कोशः कः । मनश्च ज्ञानेंद्रियपंचकं मिलित्वा भवति स मनोमयः कोशः ॥

प्र०--मनोमय कोश किसको कहते हैं--

उ०--मन और पांच ज्ञानइन्द्रियां मिलकर जो होता है वह मनोमय कोश कहाता है और यह इच्छाशक्ति है क्योंकि जिस २ वस्तुकी इच्छा आत्मामें होती है वह मनोमय कोशकेही सहायतासे होती है ॥

विज्ञानमयः कः । बुद्धिज्ञानेंद्रियपंचकं मिलित्वा यो भवति स विज्ञानमयः कोशः ॥

प्र०--विज्ञानमय कोश किसको कहतेहैं--

उ०--बुद्धि और ज्ञानइन्द्रियपञ्चक इनको मिलाकर जो होता है वह विज्ञानमय कोश होताहै

और यह ज्ञानशक्ति है क्योंकि आत्मामें जिस २ पदार्थका ज्ञान होताहै वह बुद्धि और ज्ञानेन्द्रियोंकीही सहायतासे होता है ॥

आनंदमयः कः। एवमेव कारणशरीरभूताविद्यास्थमलिनसत्त्वं प्रियादिवृत्तिसहितं सत् आनंदमयः कोशः एतत्कोशपंचकम् । मदीयं शरीरं मदीयाःप्राणाः मदीयं मनश्च मदीया बुद्धिर्मदीयं ज्ञानमिति स्वेनैव ज्ञायते। तद्यथा-मदीयत्वेन ज्ञातं कटककुंडलगृहादिकं स्वस्माद्भिन्नं तथा पञ्चकोशादिकं मदीयत्वेन ज्ञातमात्मा न भवति ॥

प्र०–आनन्दमय कोश किसको कहते हैं–
उ०–इसी पूर्वोक्त प्रकारसे कारण शरीररूप अवि-

यामें स्थित जो प्रिय मोद आदि वृत्तियोंसे युक्त मलिन सत्त्व है अर्थात् रजोगुण तमोगुणसे तिरस्कार किया सत्त्वगुण वह अभीष्ट वस्तुके देखनेसे सुखरूप जो प्रिय और अभीष्ट वस्तुकी प्राप्तिसे उत्पन्न सुखरूप जो मोद और अभीष्ट वस्तुके भोगसे जन्य सुखरूप जो प्रमोद, इन वृत्तियोंसे युक्त हुआ आनंदमय कोश होता है और इसमें अधिक आनंद होताहै इससे इसका नामआनंदमय है-ये पांच कोश हैं-इनको आत्मा अपने आप इस प्रकार एकतासे जानताहै कि, मेरा शरीर है-मेरे प्राण हैं मेरा मन है मेरी बुद्धि है और मेरा ज्ञान है तिससे जिसप्रकार मदीयतासे अर्थात् मेरे हैं इस बुद्धिसे जाने हुए कटक (कडा) कुंडल और गृहआदि अपनेसे भिन्न होनेसे आत्मारूप नहीं हैं तिसी प्रकार मदीयतासे जाने हुए ये पूर्वोक्त पांच कोश भी आत्मासे भिन्न होनेसे

आत्मारूप नहींहैंक्योंकि आत्मा इनका साक्षी है और ये मायाके कार्य हैं ॥

आत्मा तर्हि कः। सच्चिदानंदस्वरूपः ॥

प्र०--तो कहो आत्मा कौन है उ०-सत् चित् आनन्दरूप आत्मा है-

सत्किम्।कालत्रयेऽपि तिष्ठतीति सत्॥चित्किम्।ज्ञानस्वरूपः॥ आनंदः कः। सुखस्वरूपः। एवं सच्चिदानंदस्वरूपं स्वात्मानं विजानीयात् ॥

प्र०–सत् किसको कहते हैं–उ०-भूत भविष्यत् वर्तमानरूप तीनों कालोंमें जो एकरस टिके अर्थात् न्यूनाधिक भावको प्राप्त न हो उसे सत् कहते हैं–प्र०–चित् किसको कहतेहैं–उ०-ज्ञानस्वरूपको चित् कहते हैं अर्थात् जो संपूर्ण पदार्थोंका ज्ञाता-साक्षी अनुभवरूप है उसे चेतन ज्ञानस्वरूप आनंद कहते हैं अर्थात् दुःखसे

जिसका भेद (नाश) न होसके ऐसा जो सुख-रूप कूटस्थ ब्रह्म वही आनंद है। इस पूर्वोक्त तीन प्रकारका जो सच्चिदानंद ब्रह्म है उसको अपने आत्मास्वरूप जाने अर्थात् अपने जीवात्मा और उसकी एकताको जानकर नामरूपात्मक जगत्को मिथ्या समझे ॥

अथ चतुर्विंशतितत्त्वोत्पत्ति-प्रकारं वक्ष्यामः ॥

अब मायासे उत्पन्न जो चौबीस तत्त्व हैं उनकी उत्पत्तिके प्रकारको कहते हैं ॥

ब्रह्माश्रया सत्त्वरजस्तमोगुणात्मिका माया अस्ति। तत आकाशः संभूतः। आकाशाद्वायुः। वायोस्तेजः। तेजस आपः। अद्भ्यः पृथिवी ॥

ब्रह्म है आश्रय (आधार वा प्रवर्तक) जिसका ऐसी सत्त्वगुण रजोगुण तमोगुणरूप माया अ-

र्थात् इन तीनों गुणोंकी साम्यावस्था तुल्यस्थिति है जिसको मूलप्रकृति और प्रधानभी सांख्यमत-वाले कहते हैं और अव्याकृतभी इसकाही नाम है-यह पूर्वोक्त है मुख्यरूप जिसका ऐसी माया सो पूर्वोक्त सच्चिदानंदरूप ब्रह्माकी इच्छाके अनुसार प्रथम आकाश उत्पन्न हुआ-और आकाशसे वायु और वायुसे तेज-और तेजसे जल-और जलसे पृथ्वी उत्पन्न भई-इन आकाश आदि पांचों भूतोंके मध्यमें सत्त्व गुण आदि तीनों गुण वर्त-मान हैं इससे ये भूतभी त्रिगुणात्मक हैं ॥

एतेषां पञ्चतत्त्वानां मध्ये आकाशस्य सात्त्विकांशाच्छ्रोत्रेन्द्रियं संभूतम्। वायोः सात्त्विकांशात्त्वगिंद्रिय संभु-तम् । अग्नेः सात्त्विकांशाच्चक्षुरि-न्द्रियं संभूतम् । जलस्य सात्त्विकां-

शाद्रसनेंद्रियं संभूतम् । पृथिव्याः सात्त्विकांशाद् घ्राणेंद्रियं संभूतम् । एतेषां पञ्चतत्त्वानां समष्टिसात्त्विकांशान्मनोबुद्ध्यहंकारचित्तान्तः करणानि संभूतानि ॥

इन पांचों तत्वोंके मध्यमें आकाशमें जो सत्व गुणका अंश है उससे श्रोत्र(कान)इद्रिय उत्पन्न हुई-और वायुमें जो सत्वगुणका अंश है उससे त्वचा इद्रिय उत्पन्न भई-और अग्निमें जो सत्व गुणका अंशहै उससे चक्षुरिंद्रिय उत्पन्न हुई और जलमें जो सत्वगुणकाअश है उससे रसनाइंद्रिय उत्पन्न भई-और पृथ्वीमें जो सत्वगुणका अंश है उससे घ्राण इंद्रिय उत्पन्न हुई और इन पांचों तत्त्वोंका जो समष्टि सबका सत्वगुणी अंश है उससे मन बुद्धि अहकार चित्त रूप चार प्रकारके अन्तः करण उत्पन्न हुआ अर्थात ऐसा अन्तः

करण (भीतरकी इंद्रिय) उत्पन्न हुआ जिसके मन आदि चार भेद हैं ॥

संकल्पविकल्पात्मकं मनः। निश्चयात्मिका बुद्धिः॥अहंकर्त्ता अहंकारः ॥ चिन्तनकर्तृ चित्तम्। मनसो देवता चन्द्रमाः। बुद्धेर्ब्रह्मा। अहंकारस्य रुद्रः। चित्तस्य वासुदेवः॥

उन चारोंमें संकल्प विकल्प रूपको मन कहते हैं अर्थात् यह करने योग्य है वा नहीं इस संदेहको जो करे वह मन कहाता है और निश्चय जिसका रूप है वह बुद्धि है अर्थात् यही करने योग्य है यह निश्चय जिससे हो वह बुद्धि है और अहंकारका जो कर्ता वह अहंकार है अर्थात् मैंने किया इस अहं बुद्धिका जिसमें उदय हो वह अहंकार कहाता है और संपूर्ण वस्तुओंका चिंतन (स्मरण

वा विचार)जो करे वह चित्त है निदान एकही अन्तःकरण वृत्तियों (विषयों) के भेदसे भिन्न २ कहाता है और मनका देवता चन्द्रमा है बुद्धिका देवता ब्रह्मा है-अहंकारका देवता रुद्र है, चित्तका देवता वासुदेव है इस प्रकार पूर्वोक्त पांचों भूतोंसे पांच ज्ञानेन्द्रिय और चार अन्तःकरण ये नव ९ पदार्थ सत्त्वगुणके अंशसे उत्पन्न हुए ॥

एतेषां पञ्चतत्त्वानां मध्ये आकाशस्य राजसांशाद्वागिंद्रियं संभूतम् । वायोः राजसांशत्पाणींद्रियं संभूतम् ।, वह्नेः रजसांशात् पादेंद्रियं संभूतम् । जलस्य राजसांशादुपस्थेन्द्रियं संभूतम् । पृथिव्या राजसांशाद्गुदेन्द्रियं संभूतम् । एतेषां समष्टिराजसांशात्पंच प्राणाः संभूताः ॥

इन पांचों भूतों (तत्त्वों)के मध्यमें आकाशके रजोगुणी भागसे वाणी इन्द्रिय उत्पन्न हुई और वायुमें जो रजोगुणका अंश है उससे हस्त इंद्रिय उत्पन्न हुई और अग्निमें जो रजोगुणका अंश है उससे चरणरूप कर्मइंद्रिय उत्पन्न हुईऔर जलके रजोगुणी भागसे उपस्थ(लिंग) इंद्रिय उत्पन्न हुई और पृथिवीमें जो रजोगुणका भाग है उससे गुदा इंद्रिय उत्पन्न हुई और इन पांचों भूतोंके समष्टि (सबका) रजोगुणके अंशसे पांच प्राण उत्पन्न हुये इस प्रकार पंच कर्मेन्द्रिय और पंच प्राण ये दश तत्त्व रजोगुणके अंशसे उत्पन्न हुये।

एतेषां पंचतत्त्वानां तामसांशात्पंचीकृतपंचतत्त्वानि भवंति । पंचीकरणं कथम् इति चेत् । एतेषां पंचमहाभूतानां तामसांशस्वरूपम् एकम्

एकं भूतं द्विधाविभज्य एकमेकमर्धं पृथक् तूष्णीं व्यवस्थाप्य अपरमपरमर्धं चतुर्धा विभज्य स्वार्धमन्येषु अर्धेषु स्वभागचतुष्टयसंयोजनं कार्यम् तदा पंचीकरणंभवति। एतेभ्यः पंचीकृतपञ्चमहाभूतेभ्यः स्थूलशरीरं भवति। एवं पिण्डब्रह्माण्डयोरैक्यं संभूतम् ॥

इन पांचों तत्त्वोंका जो तमोगुण शेष रहा हुवा अंश है उससे पञ्चीकरण किये पांचों भूत उत्पन्न होते हैं अर्थात् तमोगुणकी महिमासे महाभूतोंका पञ्चीकरण होजाता है कदाचित् कहो कि,पञ्चीकरण किस प्रकार होताहै तो सुनो इन पांच महाभूतोंके मध्यमें जो तमोगुणका अंशरूप एक २ भूत है उसका दोप्रकारसे विभाग करके अर्थात्

एक २ भूतके दो २ टुकड़े करके उनमेंसे एक २ भागको पृथक् तूष्णीं (चुपचाप) स्थापन करके और दूसरे२ जो भाग हैं उनके चार भाग करके अपनेसे अन्य जो भूत हैं उनके तूष्णीं रक्खे हुए भागोंमें एक २ भागको मिलादे इसप्रकार पञ्ची-करण होता है । इस पञ्चीकरणके करनेसे एक २ भूतमें आधा भाग अपना और आधेमें अपनेसे अन्य चारों भूतोंके ४ भाग होते हैं इसीसे व्यास-जीने लिखा है कि अधिकतासे यह पृथिवी है यह वायु है इत्यादि कथन होता है इस प्रकार पंचीकरण किये हुए पञ्च महाभूतोंसे स्थूल शरीर होता है उसी प्रकार ब्रह्माण्ड भी उत्पन्न होता है ऐसे पिण्ड और ब्रह्माडकी एकता समझनी ॥

स्थूलशरीराभिमानी जीवनामकं ब्रह्म प्रतिबिंबं भवति सएव जीवःप्रकृत्या

१ वैशेष्य त्तद्वादस्तद्वादः ।

स्वस्मात् ईश्वरं भिन्नत्वेन जानाति । अविद्योपाधिः सन् आत्मा जीव इत्युच्यते ॥

स्थूल शरीरका अभिमानी जीव नाम ब्रह्मका प्रतिबिम्ब होता है वही जीव प्रकृति (स्वभाव)से ईश्वरको अपनेसे भिन्न जानता है और अविद्यासे उपाधिसे वह आत्मा जीव कहाता है अर्थात् जैसे जलसे पूर्ण घटमें जो आकाशके सूर्यका प्रतिबिंब है वह घटके नाशसेप्रतिबिंबभूत सूर्यरूप होजाता है इसी प्रकार जीवरूप प्रतिबिंबका आश्रय जो माया (अज्ञान)उसके नाश होनेसे जीव भी ब्रह्म भावको प्राप्त होजाता है और ज्ञानसे पूर्व मायाके अधीन होनेसे मायाके वशीभूत होता है तिसीसे अपनेको ईश्वरसे भिन्न जानता है और मायाके कार्य जो स्थूल सूक्ष्म शरीर उनके संग एकतासे

दुग्ध जलके समान एकरूप हुआ विषय भोगोंके लिये नाना प्रकारके कर्मोंको करता है और उन कर्मों के फल सुख दुःखों (स्वर्ग नरक) को भोगता और अविद्यारूप उपाधिसे आत्माही जीवबनता है--और रजोगुण तमोगुणकी न्यूनता सत्त्वगुणकी महिमासे प्रतीत होती है अर्थात् सत्त्वगुण प्रधान से वह माया कहाती है और जहां सत्त्वगुण तो न्यून हो और रजोगुण तमोगुण प्रधान हो वह अविद्या अज्ञान कहाती है और उसी अविद्यासे आच्छादित ढका आत्मा जो स्थूल शरीरका अभीमनी है उसकाही नाम जीवहै और वह अविद्यामें ब्रह्मका प्रतिबिम्ब जीव अविद्याके नाशसे ब्रह्मरूप होजाता है ॥

मायोपाधिःसन् ईश्वर इत्युच्यते एव-मुपाधिभेदाज्जीवेश्वरभेददृष्टिर्याव-

त्पर्यन्तं तिष्ठति तावत्पर्यन्तं जन्म-मरणादिरूपसंसारो न निवर्तते तस्मात्कारणान्न जीवेश्वरयोर्भेदबुद्धिः स्वीकार्या ॥

मायारूप जिसकी उपाधि है वह ईश्वर कहा जाता है अर्थात् मायामें जो ब्रह्मका प्रतिबिंब है तिसका नाम ईश्वर है और वही जगतका कर्ता है और माया(अविद्यारूप)उपाधियोंसेशुद्ध चैतन्य रूप परब्रह्म अपनी महिमामें स्थित होनेसे सत्य रूपहै-इसप्रकार मायाऔर अविद्यारूप उपाधिके वशसे जीव और ईश्वरके विषय जबतक भेदबुद्धि रहेगी तबतक जन्म मरणआदि रूपसंसार निवृत्त नहीं होता है तिससे जीव और ईश्वरमेंकदाचित् भी भेदबुद्धि नहीं करनी अर्थात् जीव और ईश्व-रको भी ज्ञानके द्वारा ब्रह्मरूपही समझना ॥

नन्वसाहंकारस्यकिंचिज्ज्ञस्यजीवस्य निरहंकारस्य सर्वज्ञस्येश्वरस्य तत्त्वमसीति महावाक्यात्कथमभेदबुद्धिः स्यादुभयोः विरुद्धधर्माक्रांतत्वात् ॥

कदाचित कहो कि,अहंकारसे युक्त और सर्वज्ञ जो ईश्वर है उसकी 'तत्त्वमसि' इस महावाक्यसे कैसे अभेद बुद्धि होगी, क्योंकि दोनों विरुद्ध धर्मोंसे आक्रांत (युक्त) हैं अर्थात् जो अल्पज्ञत्व अहंकार आदि धर्मवाला है सर्वज्ञत्व अहंकार रहित तत्त्व धर्मवाला कैसे हो सकता है ॥

इति चेन्न । स्थूलसूक्ष्मशरीराभिमानी त्वंपदवाच्यार्थ उपाधिविनिर्मुक्तं समाधिदशासम्पन्नं शुद्धं चैतन्यं त्वंपदलक्ष्यार्थः ॥

ऐसे मत कहो क्योंकि स्थूल और सूक्ष्म शरी-

रका जो अभिमानी त्वंपदका वाच्य अर्थ है और उपाधिसे रहित समाधि दशासेयुक्तजो शुद्ध चैतन्य वह त्वंपदका लक्ष्य अर्थ है अर्थात् तत्त्वमसि इस महावाक्यमें तत् त्वं असि-जो तीन पद हैं उनका यह अर्थ है कि वह जगत्कर्ता जो सर्वज्ञ ईश्वर हैं वही तू है-यहां तत्पदका ईश्वरऔरत्वंपदका जीव और असिपदका-है-क्रमसे अर्थ है और इस पूर्वोक्त सामान्य अर्थसे भिन्नतत्त्वमसि इस महावाक्यका विशेष यह अर्थ है कि तत् और त्वम् पदके दो अर्थ हैं-एक वाच्य और दूसरा लक्ष्य-जैसे घटपदका वाच्य अर्थ गोलाकार है और लक्ष्य अर्थ-मूलकारणरूप मृत्तिका है इसी प्रकार माया और अविद्याका सम्बन्ध जिसमें है वह तत् और त्वंपदका वाच्य अर्थ है और माया और अविद्याके सम्बन्धसे रहित जो ब्रह्म वह दोनों पदोंका लक्ष्य अर्थ है ॥

एवं सर्वज्ञत्वादिविशिष्टईश्वरःतत्पद-
वाच्यार्थः॥उपाधिशून्यं शुद्धचैतन्यं
तत्पदलक्ष्यार्थः।एवं च जीवेश्वरयोः
चैतन्यरूपेणाऽभेदे बाधकाभावः॥

इसीप्रकार– सर्वज्ञत्व आदि विशेषणोंसे युक्त जो ईश्वर वह तत पदका वाच्यअर्थ है और उपाधिसे शून्य जो शुद्ध चैतन्यरूप ब्रह्म वह तत पदका लक्ष्य अर्थ है इस प्रकार जीव और ईश्वर जो तत्पदके अर्थ है उनके चैतन्यरूप लक्ष्य अर्थ के अभेद(एकता) में कोई बाधक नहीं अर्थात चैतन्यरूपसे जीव और ईश्वर एकहै ॥

एवं च वेदान्तवाक्यैः सद्गुरूप-
देशेन च सर्वेष्वपि भूतेषु येषां ब्रह्म-
बुद्धिरुत्पन्ना ते जीवन्मुक्ता इत्यर्थः
ननु जीवन्मुक्तः कः। यथा देहोऽहं

पुरुषोऽहं ब्राह्मणोऽहं शूद्रोऽहमस्मीति दृढनिश्चयस्तथा नाहं ब्राह्मणः नशूद्रः न पुरुषः किन्तु असंगः सच्चिदानंदस्वरूपः प्रकाशरूपः सर्वान्तर्यामी चिदाकाशरूपोऽस्मीति दृढ निश्चयरूपाऽपरोक्षज्ञानवान् जीवन्मुक्तः ॥

इसरीतिसे वेदान्त वाक्योंकेद्वारा—श्रेष्ठगुरुके उपदेशसे जिन प्राणियोंकी संपूर्ण भूतोंमें ब्रह्मबुद्धि उत्पन्नहोगई है वे जीवन्मुक्त हैं—प्र०—जीवन्मुक्त किसको कहते हैं—उ०—जैसे मैं देहहूँ—पुरुष हूँ—ब्राह्मणहूँ—शूद्रहूँ, यह दृढ निश्चय है इसी प्रकार न मैं ब्राह्मणहूँ, न पुरुष हूँ, न शूद्र हूँ, किन्तु असंग सच्चिदानन्दस्वरूप, प्रकाशरूप, सबकाअन्तर्यामी चिदाकाशरूप हूँ यह दृढ निश्चयरूप अपरोक्षज्ञान जिसको है वह जीवन्मुक्त है ॥

ब्रह्मैवाहमस्मीत्यपरोक्षज्ञानेन निखिलकर्मबंधविनिर्मुक्तःस्यात्॥कर्माणि कतिविधानि सन्तीतिचेत्आगामिसंचितप्रारब्धभेदेनत्रिविधानि संति

ब्रह्मही मैं हूँ, इस अपरोक्ष ज्ञानसे मनुष्य संपूर्ण कर्मरूप बन्धनोंसे विनिर्मुक्त होजाता है अर्थात् छुट जाता है कदाचित् कहोकि-कर्म कै प्रकारके हैं तो सुनो आगामि-संचित-प्रारब्ध-इन भेदोंसे कर्म तीन प्रकारके होते हैं॥

ज्ञानोत्पत्त्यनंतरं ज्ञानिदेहकृतं पुण्यपापरूपं कर्म यदस्ति तदागामीत्यभिधीयते॥

ज्ञानकी उत्पत्तिके अनन्तर ज्ञानीके देहका किया जो पुण्यपापरूपी कर्म है वह आगामि

कहाता है, क्योंकि वह ज्ञानकी उत्पत्तिके पीछे होता है और वह भोगने योग्यहै ॥

संचितं कर्मकिम् । अनंतकोटिजन्मनां बीजभूतं सत् यत्कर्मजातं पूर्वार्जितं तिष्ठति तत्संचितं ज्ञेयम् ॥

प्र०--संचितकर्म किसको कहते हैं-उ०-अनंत कोटि जन्मोंका बीजरूप जो कर्मोंका समूह पूर्व संचितटिका हुआहै वह संचित जानना अर्थात् अनेक जन्मोंमें किया हुआ पुण्यपाप जीवात्मामें-इकट्ठा रहता है ॥

प्रारब्धकर्म किमिति चेत।इदं शरीरमुत्पाद्य इह लोके एवंसुखदुःखादिप्रदं यत्कर्म तत्प्रारब्धं भोगेन नष्टं भवति प्रारब्धकर्मणां भोगादेव क्षय इति ॥

प्र०-प्रारब्ध किसको कहतेहैं-उ०-इस शरीरको उत्पन्न करके इस लोकमें-इस प्रकार सुख-दुःख आदिका दाता (देनेवाला) जो कर्म है वह प्रारब्ध कहाता है-और वह प्रारब्ध कर्मभोगसेही नष्ट होजाता है क्योंकि प्रारब्ध कर्मोंकाभोगसेही क्षय होता है यह नियम है-क्यों कि इस वचनमें यह लिखा है कि किया हुआ शुभ और अशुभ कर्म अवश्य भोगने योग्य है-विना भोगके कोटियों कल्पोंमें भी नष्ट नहीं होता है ॥

संचितं कर्म ब्रह्मैवाहमिति निश्चयात्मकज्ञानेन नश्यति । आगामि कर्म अपि ज्ञानेन नश्यति। किंच आगामिकर्मणां नलिनीदलगतजलवत् ज्ञानिनां सम्बन्धो नास्ति ॥

---

१ अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम् । नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि ।

संचित कर्मका नाश-मैंब्रह्माही हूँ इस निश्च-यात्मक ज्ञानसे होता है और आगामि कर्म भी ज्ञानसेही नष्ट होता है परन्तु ज्ञानियोंको आगामि कर्मोंका सम्बन्ध इस प्रकार नहींहोता जैसे कमलके पत्तोंपर जलका सम्बन्ध नहीं होता ॥

किंच ये ज्ञानिनं स्तुवंति भजंति अर्चयंति तान्प्रति ज्ञानिकृतम् आगामि पुण्यं गच्छति। ये ज्ञानिनं निन्दन्ति द्विषंति दुःखप्रदानं कुर्वंति तान्प्रति ज्ञानिकृतं सर्वम् आगामि क्रियमाणं यदवाच्यं कर्म पापात्मकं तद्गच्छति॥

और ज्ञानीकी जो स्तुति-सेवा-करते हैं उनके प्रति ज्ञानका किया आगामि पुण्य जाताहै अर्थात मिलता है-और जो ज्ञानीकी निन्दा वैर करते हैं वा दुःख देते हैं उनके प्रति आगामि जो ज्ञानीका

किया हुआ पापरूप कर्म है वह जाताहै-सोई-इस श्रुतिमें लिखा है कि, मित्र पुण्य कर्म और वैरी पाप कर्मोंको ग्रहण करते हैं ॥

तथा चात्मवित्संसारं तीर्त्वा ब्रह्मानन्दमिहैव प्राप्नोति । तरति शोकमात्मविदिति श्रुतेः ॥

तिसी प्रकार आत्मज्ञानीसंसारसे पार होकर इस जन्ममेंही ब्रह्मानन्दको प्राप्तहोता है-सोई श्रुतिमें लिखाहै कि आत्मज्ञानी शोकको तरता है॥

तनुं त्यजतु वा काश्यां श्वपचस्य गृहेऽथ वा । ज्ञानसंप्राप्तिसमये मुक्तोऽसौ विगताशय इति स्मृतेश्च ॥

इति तत्त्वबोधप्रकरणं समाप्तम् ॥

---

१ सुहृदः पुण्यकृत्यान्दुर्हृदः पापकृत्यान् गृह्णन्ति ।

और यह स्मृति भी है कि, ज्ञानी काशीमें देहको त्यागो वा चाण्डालके घरमें त्यागो परन्तु ज्ञानकी प्राप्तिके समयमें अन्तःकरणके मलोंसे रहित यह मुक्तरूपही है अर्थात् ज्ञानीके मरणके लिये देश काल वस्तु-इनका नियम नहींहै ॥

इति श्रीपंडितमिहिरचन्द्रकृततत्त्वबोध-
भाषाटीका समाप्ता ॥

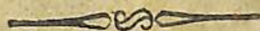
यह पुस्तक खेमराज श्रीकृष्णदासने बंबई खेतवाडी७ वीं गली खम्बाटा लैन, निज "श्रीवेंकटेश्वर" स्टीम्-प्रेसमें अपने लिये छापकर यहीं प्रकाशित किया।

पुस्तक मिलनेका ठिकाना-
खेमराज श्रीकृष्णदास,
"श्रीवेंकटेश्वर" स्टीम्-प्रेस, मुंबई.

श्रीः ।

श्रीमच्छङ्कराचार्यविरचितः

आत्मबोधः ।



गङ्गाविष्णु श्रीकृष्णदास,

लक्ष्मीवेङ्कटेश्वर छापाखाना,

कल्याण-मुंबई.

श्रीः ।

श्रीमच्छङ्कराचार्यविरचितः

आत्मबोधः ।

आगरानगरस्थायिदिष्टविद्बालमुकुन्दभट्टसूरिसूनु-
पण्डित-रामेश्वरभट्टकृतया गूढार्थप्रका-
शिन्या भाषाटीकया संवलितः ।

सोऽयम्
श्रीकृष्णदासात्मज-गंगाविष्णोः
अध्यक्ष "लक्ष्मीवेंकटेश्वर" मुद्रणालये
मैनेजर पं० शिवदुलारे वाजपेयीत्यनेन स्वाम्यर्थं
मुद्रितः प्रकाशितश्च ।

संवत् १९७६, शके १८४१.

कल्याण-मुंबई.

श्रीराम राम रामेति ये जपन्ति च सर्वदा ॥
तेषां भुक्तिश्च मुक्तिश्च भवत्येव न संशयः ॥ १ ॥

चैत्रमासे सिते पक्षे नवम्यां च पुनर्वसौ ॥
मध्याह्ने कर्कटे लग्ने जातो रामः स्वयं हरिः ॥ २ ॥



जयत्यतिबलो रामो लक्ष्मणश्च महाबलः ॥
राजा जयति सुग्रीवो राघवेणाभिपालितः ॥ ३ ॥

दासोऽहं कोसलेन्द्रस्य रामस्याक्लिष्टकर्मणः ॥
हनूमान् शत्रुसैन्यानां निहन्ता मारुतात्मजः ॥ ४ ॥
न रावणसहस्रं मे युद्धे प्रतिबलं भवेत् ॥
शिलाभिस्तु प्रहरतः पादपैश्च सहस्रशः ॥ ५ ॥
अर्दयित्वा पुरीं लंकामभिवाद्य च मैथिलीम् ॥
समृद्धार्थो गमिष्यामि मिषतां सर्वरक्षसाम् ॥ ६ ॥

॥ श्रीः ॥

प्रस्तावः ।

अथ तावदात्मबोधजिज्ञासवो भवन्तो विदाङ्कुर्वन्तु योऽयमात्मबोधाभिधानग्रंथो धर्मार्थकाममोक्षरूपचतुर्विधपुरुषान्तर्गतमोक्षसाधकोऽनेकेषां वेदांतविषयकाचिरस्थानां ग्रंथानां सारं प्रमथ्य श्रीमत्पूज्यपादपद्मैर्ज्ञानोदधिपारावारीणैः श्रीशंकरावतारैः श्रीशंकराचार्यैस्तत्त्वबोधाभिधेयग्रंथपठनानन्तरमेव मुमुक्षुपुंसां झटिति ज्ञानविशेषप्रदर्शनाय द्वितीयसोपानरूपो व्यरचि । यद्यपि अनेकविद्वज्जनवर्य्यैः संस्कृतव्याख्याभिर्गुम्फितोऽयं ग्रन्थस्तथापि भाषापिपठिषुभिर्मुमुक्षुभिः कोऽपि लाभो न लब्धः तासां गीर्वाणभाषोपनिबद्धत्वात् । अत एव मुंबापुरांतर्गतकल्याणनामकपत्तनस्थेन वैश्यवंशाम्बुजोद्बोधनविकर्तनेन श्रीकृष्णदासात्मजेन गङ्गाविष्णुगुप्तेन मुमुक्षूणां हितार्थाय भाषाविवरणेन समर्थीकारयितुं [illegible] संप्रेषि ।

तदनुमत्या च मया यथामति भाषानुवादं विधाय तत्कर-कमलेऽयं समर्प्यते प्रज्ञावद्भिर्वेदान्तविषयककाठिन्यतरं मामकीनाल्पज्ञत्वं च विमृश्य स्खलितप्रमादादिदोषाः क्षन्तव्या इति प्रार्थ्यते ।

रामेश्वरभट्टशर्म्मा,
अनेकग्रन्थानां भाषानुवादकः ।

पुस्तक मिलनेका ठिकाना—
गङ्गाविष्णु श्रीकृष्णदास,
"लक्ष्मीवेंकटेश्वर" छापाखाना,
कल्याण—मुंबई.

श्रीगणेशाय नमः ।

अथ

अन्वयानुवादसहितः ।

आत्मबोधः ।

तपोभिः क्षीणपापानां शान्तानां वीतरागिणाम् । मुमुक्षूणामपेक्षोऽयमात्मबोधो विधीयते ॥ १ ॥

अन्वयः—तपोभिः क्षीणपापानाम्, शान्तानाम्, वीतरागिणाम्, मुमुक्षूणाम्, अपेक्षः, अयम्, आत्मबोधः, विधीयते ॥ १ ॥

भावार्थः—तप करनेसे जिनके रागद्वेषादि अंतःकरणसे दूर हो गये हैं और जो शांत हैं अर्थात् जिनको क्षोभ नहीं है और वीतराग अर्थात् इस

---

१ तपसे यहां कृच्छ्रचान्द्रायणादि व्रत, नित्यनैमित्तिक प्रायश्चित्त, उपासना तथा इंद्रियोंके रोकनेका ग्रहण है तत्वबोधमें सविस्तर देखना ।

लोक और परलोकमें भोगको नहीं चाहनेवाले और मुमुक्षु कहिये जो जन्ममरणादिके बन्धनसे छूटा चाहते हैं ऐसे पुरुषोंके लिये, यह आत्मबोध नामक ग्रंथ बनाया गया है ॥ १ ॥

शंका—शास्त्रोंमें तो जप तप यज्ञादिसेभी मोक्ष होना लिखा है यहां केवल आत्मज्ञानसेही मोक्ष कैसे कहते हो—

बोधोऽन्यसाधनेभ्यो हि साक्षान्मो-
क्षैकसाधनम् । पाकस्य वह्निवज्ज्ञा-
नं विना मोक्षो न सिद्ध्यति ॥ २ ॥

अन्वयः—हि, अन्यसाधनेभ्यः, बोधः पाकस्य, वह्निवत्, साक्षात्, मोक्षैकसाधनम्, यतः, ज्ञानम्, विना, मोक्षः, न, सिद्ध्यति ॥ २ ॥

भावार्थः—अन्य जो जप तप कर्म योगादि मोक्षके साधन हैं उनमें मोक्षका मुख्य साधन बोध अर्थात् आत्मज्ञानही है जैसे पाक बनानेमें पात्र, ईंधन, जल इत्यादिकी आवश्यकता तो है किन्तु

पाकमें मुख्य कारण अग्निही है और अन्य जो कारण रहे सो तो सहकारिकारण हैं अत एव ज्ञानके विना मोक्ष नहीं हो सक्ती । इस विषयमें श्रुतिके प्रमाण हैं जैसे-" ज्ञानादेव तु कैवल्यम् " " ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः " अर्थात् ज्ञानके विना मुक्ति नहीं होती है । और अन्य जो उपासना आदि कर्म हैं वे केवल अंतःकरणकी शुद्धिके लिये हैं जैसा स्मृतिमें लिखा है कि-" तपसा कल्मषं हन्ति विद्ययाऽमृतमश्नुते । " अर्थात् तपसे कल्मष दूर होते हैं और विद्यासे मोक्ष पाता है ॥ २ ॥

शंका-जनक आदि तो कर्मोंसेही सिद्धिको प्राप्त हो गये इसलिये श्रेष्ठ कर्म करनेसे जब अज्ञानका नाश हो जायगा तब स्वयं मुक्ति हो जायगी फिर ज्ञानसे अज्ञानका नाश मानना वृथा है-

अविरोधितया कर्म नाविद्यां विनिवर्तयेत् । विद्याऽविद्यां निहन्त्येव तेजस्तिमिरसंघवत् ॥ ३ ॥

अन्वयः—कर्म, अवरोधितया, अविद्याम्, न, विनिवर्तयेत्, विद्या, अविद्याम्, तेजः, तिमिरसंघवत्, निहन्ति, एव ॥ ३ ॥

भावार्थः—जो पदार्थ जिसका विरोधी नहीं होता है वह उसे नष्ट नहीं कर सक्ता है और कर्म अज्ञानका विरोधी नहीं है इसलिये अविद्या अर्थात् अज्ञानको दूर नहीं कर सक्ता क्योंकि कर्म और अज्ञान ये दोनों जड पदार्थ हैं । और देखो तेज और अन्धकारका आपसमें विरोध है क्योंकि सूर्यके प्रकाश होतेही सब अन्धकार नष्ट हो जाता है वैसेही विद्या अर्थात् 'मैं शुद्धबोध मुक्तिस्वरूप हूं' ऐसा जो ब्रह्म और जीवात्माका अभेदज्ञान सो अविद्याको अर्थात् "मैं पुरुष हूं" "मैं सुखी हूं" "मैं दुःखी हूं" इस प्रकारके अज्ञानको नष्ट कर देती है इससे यही सिद्धान्त निकला कि ज्ञानसे अज्ञानका नाश है कर्मसे नहीं है जिस समय ज्ञानरूपी सूर्यका प्रकाश होगा उस समय अज्ञानरूपी सब अंधकार नष्ट हो जायगा ॥ ३ ॥

अब जो यह शंका करो कि आत्मा तो प्रत्येक शरीरमें जन्मसेही नाशवान् प्रतीत होता है तो अब जीव और ब्रह्मकी एकताके ज्ञानसे अज्ञान किस प्रकार नष्ट होगा । इसका समाधान आगे कहतेहैं—

परिच्छिन्न इवाज्ञानात्तन्नाशे सति केवलः । स्वयं प्रकाशते ह्यात्मा मेघापायेंऽशुमानिव ॥ ४ ॥

अन्वयः—आत्मा, अज्ञानात्, परिच्छिन्नः, इव, (भाति) तन्नाशे, सति, मेघापाये, अंशुमान्, इव, केवलः स्वयम्, हि, प्रकाशते ॥ ४ ॥

भावार्थः—आत्मा, अज्ञानसे ढका हुआ है ऐसा प्रतीत होता है किन्तु अज्ञानके नष्ट होतेही वह अपने आप इस प्रकार प्रकाशित होता है कि जैसे मेघके दूर होनेपर सूर्य प्रकाशवान् होता है इसका तात्पर्य यह है कि आत्मा तो सर्वव्यापक अद्वितीय है परन्तु अज्ञानसे कल्पना किये गये जो देव

मनुष्यादिके शरीर हैं उनके भ्रमसे परिच्छिन्न अर्थात् ढका हुआसा प्रतीत होता है और जब "तत्वमसि" आदि महावाक्योंके द्वारा "आत्मा और ब्रह्म एक है" ऐसा ज्ञान हो जाता है तब अज्ञानसे उत्पन्न हुआ मिथ्या भ्रमका आरोपण कर रक्खा था उसका नाश हो जाता है और आत्मा सजातीय विजातीय और स्वगत इन तीनों भेदोंसे रहित केवल स्वयं प्रकाशवान् ब्रह्मरूप प्रतीत होता है ॥ ४ ॥

कदाचित् यह कहो कि अज्ञानके नष्ट होनेपर आत्माका अद्वितीय होना जो सिद्ध किया सो नहीं हो सक्ता क्योंकि अज्ञानको नाश करनेवाली वृत्तिका जब ज्ञान होगा तब तो द्वैत सिद्ध हो जायगा । तहां कहते हैं–

अज्ञानकलुषं जीवं ज्ञानाभ्यासा-द्धि निर्मलम् । कृत्वा ज्ञानं स्वयं नश्येज्जलं कतकरेणुवत् ॥ ५ ॥

अन्वयः ज्ञानं, अज्ञानकलुषम्, जीवम्, हि,

ज्ञानाभ्यासात्, निर्मलम्, कृत्वा, जलम्, (निर्मलं कृत्वा), कतकरेणुवत्, स्वयम्, नश्येत् ॥ ५ ॥

भाषार्थः-जैसे निर्मली बूटी गदले जलको शुद्ध करके आपभी नष्ट हो जाती है वैसेही "मैं कर्त्ता नहीं हूं, मैं भोक्ता नहीं हूं, मैं सच्चिदानन्द ब्रह्म हूं" इस प्रकारका ज्ञान, "मैं कर्त्ता हूं, मैं भोक्ता हूं" इस अज्ञानसे मलिन जो जीवात्मा है उसको निर्मल करके आपभी नष्ट हो जाता है ॥ ५ ॥

जो कदाचित् यह कहो कि संसार तो साक्षात् दीखता हुआ सत्य प्रतीत होता है तो ब्रह्मकी अद्वैतता किस प्रकार सिद्ध हो सक्ती है इस शंकाका समाधान करते हैं-

संसारः स्वप्नतुल्यो हि रागद्वेषादि-
सङ्कुलः । स्वकाले सत्यवद्भाति
प्रबोधे सत्यसद्भवेत् ॥ ६ ॥

अन्वयः-हि, रागद्वेषादिसङ्कुलः, संसारः स्वप्न-

तुल्यः, स्वकाले, सत्यवत्, भाति, प्रबोधे, सति, असत्, भवेत् ॥ ६ ॥

भाषार्थः—रागद्वेष आदिसे व्याप्त यह संसार स्वप्नके तुल्य है क्योंकि स्वप्नके समयकी जो अवस्था है वह स्वप्नकालमेंही सत्यसी दीखती है किन्तु जब प्रबोध होता है अर्थात् जाग्रत् अवस्थाका आरंभ होता है तब आत्मा और ब्रह्मकी एकताके ज्ञानके पीछे एक क्षणमें असत्य दीखने लगता है अतएव मिथ्या जगत्से आत्माकी अद्वैततामें हानि नहीं हो सक्ती है ॥ ६ ॥

जो कदाचित् यह कहो कि जब संसार यथार्थमें मिथ्याही है तो सत्य और असत्य कबतक और किस प्रकार प्रतीत होता है इसका समाधान करते हैं—

तावत्सत्यं जगद्भाति शुक्तिकारजतं यथा । यावन्न ज्ञायते ब्रह्म सर्वाधिष्ठानमद्वयम् ॥ ७ ॥

अन्वयः—यावत्, सर्वाधिष्ठानम्, अद्वयम्, ब्रह्म, न, ज्ञायते, तावत्, (एव), जगत्, यथा, शुक्तिकारजतम्, (तथा), सत्यम्, भाति ॥ ७ ॥

भाषार्थः—जैसे जबतक यह ज्ञान नहीं होता है कि यह नीलपृष्ठवाली त्रिकोणाकार सीपी है तभीतक सीपीका रजत (चांदी) सत्यसा दीखता है इसी प्रकार जबतक सबके अधिष्ठान अद्वैत ब्रह्मका ज्ञान नहीं होता है तभीतक यह संसार सत्य दीखता है और उसके पीछे तो मिथ्याही प्रतीत होने लगता है ॥ ७ ॥

अब दृष्टान्तसे इस बातको दृढ करते हैं कि सम्पूर्ण जगत् ब्रह्ममें कल्पित है—

सच्चिदात्मन्यनुस्यूते नित्ये विष्णौ प्रकल्पिताः । व्यक्तयो विविधाः सर्वा हाटके कटकादिवत् ॥ ८ ॥

अन्वयः—सच्चिदात्मनि, अनुस्यूते, नित्ये,

विष्णौ, सर्वाः, विविधाः, व्यक्तयः, हाटके, कटकादिवत्, प्रकल्पिताः ॥ ८ ॥

भाषार्थः–सच्चिदानन्द आत्मा अनुस्यूत अर्थात् जैसे मणियोंमें सूत्र पुहा रहता है और मणि सूत्रमें अनुगत है इस प्रकार सबमें नित्य और व्यापक है और जगत्की अनेक प्रकारकी व्यक्तियां अर्थात् देव मनुष्य कीटादि उसमें ऐसे कल्पित हैं जैसे सुवर्णमें कटककुंडलादि परन्तु यथार्थमें सुवर्णही सत्य है इसलिये नामरूपात्मक मिथ्या है और आत्मा शुद्धस्वरूप है ॥ ८ ॥

जो कहो कि प्रपञ्च तो मिथ्या है और जीवभेद सत्य है इसलिये प्रपञ्चका अधिष्ठानरूप जो परमात्मा है उसे सत्य और अद्वितीय कैसे कहें इस शंकाका समाधान सुनो–

यथाकाशो हृषीकेशो नानोपाधिगतो विभुः । तद्भेदाद्भिन्नवद्भाति तन्नाशे सति केवलः ॥ ९ ॥

अन्वयः-यथा, नानोपाधिगतः, विभुः, आकाशः, तद्भेदात्, भिन्नवत्, भाति, तन्नाशे, सति केवलः, हृषीकेशः, (अस्ति) ॥ ९ ॥

भाषार्थः-जैसे आकाश तौ व्यापकरूप है किंतु घट आदि उपाधियोंमें प्राप्त होनेसे उसी उपाधिके भेदसे घटाकाश इत्यादि प्रतीत होता है और घटादि पदार्थोंके नष्ट होनेपर केवल आकाश मात्र शेष रह जाता है उसी प्रकार हृषीकेश अर्थात् संपूर्ण इंद्रियोंका परमात्मा अनेक प्रकारकी देहादि उपाधियोंमें प्राप्त होनेसे भिन्न २ प्रतीत होता है किन्तु उपाधियोंके नष्ट होनेपर केवल एक अद्वितीय असंग ब्रह्महो रह जाता है ॥ ९ ॥

जो यह कहो कि आत्मा तौ "मैं ब्राह्मण हूं" "मैं संन्यासी हूं" इत्यादि जाति वर्ण आश्रम आदि अनेक प्रकारके धर्मोंसे युक्त प्रतीत होता है फिर आत्माको असंग कैसे ठहराते हो । इस शंकाका समाधान सुनो-

नानोपाधिवशादेव जातिनामाश्रमादयः । आत्मन्यारोपितास्तोये रसवर्णादिभेदवत् ॥ १० ॥

अन्वयः—नाना, उपाधिवशात्, एव, तोये रसवर्णादिभेदवत्, आत्मनि, जातिनामाश्रमादयः, आरोपिताः, (सन्ति) ॥ १० ॥

भाषार्थः—पूर्वोक्त नाना प्रकारकी उपाधियोंके वशसे जाति नाम आश्रमादिक आत्मामें आरोपित कर लिये गये हैं यथार्थमें नहीं हैं जैसे जलमें कडुआ, मीठा, कषैला रस घोल देनेसे उस जलका स्वाद वैसाही लगने लगता है और नील पीत आदि रंग घोल देनेसे नीला पीला दीखने लगता सो यह बात केवल दूसरी वस्तुके मिला देनेसे होती है परन्तु जलमें कोई विकार नहीं है इसका गुण तो यथार्थमें श्वेत और मिष्ट है उसी प्रकार जाति आश्रमादिके साथ एकता होनेके कारण आत्मामें भ्रमसे जातिधर्मादि प्रतीत होते हैं परंतु

यथार्थमें आत्मा शुद्ध है इसमें कुछ संदेह नहीं है ॥ १० ॥

अब अविद्यासे कल्पित तीन उपाधियोंका वर्णन करते हैं–

पञ्चीकृतमहाभूतसम्भवं कर्मसंचितम् । शरीरं सुखदुःखानां भोगायतनमुच्यते ॥ ११ ॥

अन्वयः–पञ्चीकृतमहाभूतसम्भवम्, कर्मसंचितम्, शरीरम्, सुखदुःखानाम्, भोगायतनम्, उच्यते ॥ ११ ॥

भाषार्थः–पञ्चीकरण किये गये जो पृथ्वी आदि पञ्चभूत जगत्के उपादानकारण उनसे उत्पन्न हुआ और प्रारब्धके कर्मोंसे संचित अर्थात् रचित जो शरीर सो सुखदुःख भोगनेका स्थान है ॥ ११ ॥

अब आत्माकी सूक्ष्मशरीररूप दूसरी उपाधि कहते हैं–

पञ्चप्राणमनोबुद्धिदशेन्द्रियसमन्वि-

तम् ॥ अपंचीकृतभूतोत्थं सूक्ष्माङ्गं भोगसाधनम् ॥ १२ ॥

अन्वयः–पञ्चप्राणमनोबुद्धिदशेन्द्रियसमन्वितम्, अपंचीकृतभूतोत्थम्, सूक्ष्माङ्गम्, भोगसाधनम्, (उच्यते) ॥ १२ ॥

भाषार्थः–पञ्च प्राण अर्थात् प्राण अपान उदान व्यान और समान तथा अंतःकरणके संकल्प विकल्पात्मक वृत्तिरूपी मन और निश्चयात्मक वृत्तिरूपी बुद्धि और दश इन्द्रिय अर्थात् श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा, घ्राण ये पांच ज्ञानेन्द्रिय और हस्त, चरण, मुख, गुदा, लिंग ये पांच कर्मेन्द्रिय इनसे युक्त और पञ्चीकरण नहीं किये गये ऐसे पृथ्वी आदि पञ्च महाभूतोंसे उत्पन्न जो सूक्ष्म शरीर है वह भोगका साधन अर्थात् कारण है ॥ १२ ॥

आत्माकी कारण शरीररूप तीसरी उपाधि कहते हैं–

अनाद्यविद्याऽनिर्वाच्या कारणो-

पाधिरुच्यते । उपाधित्रितयादन्य-
मात्मानमवधारयेत् ॥ १३ ॥

अन्वयः–अनिर्वाच्या, अनाद्यविद्या, कारणोपाधिः, उच्यते, आत्मानम्, उपाधित्रितयात्, अन्यम्, अवधारयेत् ॥ १३ ॥

भाषार्थः–जो विद्या कि अनादि है अर्थात् जिसकी उत्पत्ति नहीं है और अनिर्वाच्य है अर्थात् जिसका सत् असत्‌रूपसे वर्णन नहीं हो सक्ता है (क्योंकि जो सत् कहे तो ज्ञानसे किस प्रकार नष्ट होगी और असत् कहे तो मायासे जगत्‌की उत्पत्ति कैसे हो सक्ती है) और जो कारणरूप अर्थात् स्थूल सूक्ष्म शरीरकी उत्पत्तिका बीज है ऐसी मायाको उपाधि कहते हैं। इन पूर्वोक्त स्थूल सूक्ष्म और कारणरूप तीनों उपाधियोंसे अपने साक्षीरूप आत्माको भिन्न जानना चाहिये जैसा घटका देखनेवाला घटसे भिन्न होता है ॥ १३ ॥

कदाचित् यह कहो कि प्रथम जो आत्माको

तीन उपाधियोंसे भिन्न वर्णन किया है सो ठीक नहीं क्योंकि "स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः" अर्थात् वह एक पुरुष अन्नरसमय है इस श्रुतिके प्रमाणसे कोशही आत्मा प्रतीत होता है। तहां इस शंकाका समाधान करते हैं-

पंचकोशादियोगेन तत्तन्मय इव स्थितः। शुद्धात्मा नीलवस्त्रादियोगेन स्फटिको यथा ॥ १४ ॥

अन्वयः-यथा, स्फटिकः, नीलवस्त्रादियोगेन, तत्तन्मयः, इव, (भाति), तथा, शुद्धात्मा, पञ्चकोशादियोगेन (तत्तन्मयः इव) स्थितः (अस्ति) १४ ॥

भाषार्थः-जैसे स्फटिक स्वभावहीसे निर्मल और नील पीत आदि रंगोंके योगसे नीला पीलासा प्रतीत होता है किन्तु यथार्थमें वह नीला पीला नहीं है उसी प्रकार शुद्ध आत्मा पञ्च कोश आदिके

योगसे कोशरूप प्रतीत होता है सो ऐसा, केवल भ्रम मात्र है। देखो जब अन्नमय कोशके साथ आत्माकी एकताका भ्रम होता है तब तो आत्मा "मैं मनुष्य हूं" "मैं स्थूल हूं" इत्यादिसे अन्नमय कोशरूप प्रतीत होने लगता है और जब प्राणमय कोशके साथ आत्माकी एकताका भ्रम होता है तब आत्मा "मैं क्षुधित हूं" "मैं तृषित हूं" इत्यादिसे प्राणमयकोश प्रतीत होने लगता है और जब मनोमयकोशके साथ आत्माकी एकताका भ्रम होता है तब आत्मा "मेरा देह है" "मेरा घर है" "यह मेरे पुत्रादि हैं" इत्यादि मनोमयकोश प्रतीत होता है और जब विज्ञानमयकोशके साथ आत्माकी एकताका भ्रम होय है तब "मैं ज्ञानी हूं", "मैं मूर्ख हूं" इत्यादि विज्ञानमयकोशरूप प्रतीत होता है और जब आनन्दमयकोशके साथ आत्माकी एकता प्रतीत होती है तब आत्मा "मैं सुखी हूं" इत्यादि आनन्दमयकोशरूप प्रतीत होता है इस-

लिये वास्तवमें पूछो तौ आत्मा पञ्चकोश नहीं है। तौ फिर क्या है कि सच्चिदानन्दस्वरूप है। जो यह कहो कि श्रुतिमें तौ आत्माको अन्नरसमय-कोशादिरूप प्रतिपादन किया है सो श्रुतिका यह तात्पर्य्य नहीं है वह तौ केवल सूक्ष्म ब्रह्मरूप वस्तु दिखानेके लिये है कुछ यह नहीं है कि आत्मा पञ्चकोशरूप है क्योंकि आत्मा तौ एक है और कोश अनेक हैं फिर देखो कि कोश उत्पन्न और विनाशी हैं। और आत्मा अविनाशी है। कोश धर्मी हैं आत्मा धर्मसे रहित है इन कारणोंसे आत्मा कोशरूप कदापि नहीं हो सक्ता ॥ १४ ॥

पूर्वोक्त कारणोंसे यद्यपि कोश और आत्माको एकरूपताके अभ्याससे आत्मा कोशरूप प्रतीत होता है तथापि आत्मा विवेकसे शुद्धरूप और कोशोंसे पृथक् प्रतीत हो सक्ता है इसका दृष्टान्त आगेके श्लोकमें देते हैं—

वपुस्तुषादिभिः कोशैर्युक्तं युक्त्याऽ-

वघाततः । आत्मानमन्तरं शुद्धं विविच्यात्तण्डुलं यथा ॥ १९

अन्वयः-यथा तुषादिभिः,(युक्तम्), तण्डुलम्, वपुः, अवघाततः,(तथा), कोशैः, युक्तम्, अंतरम्, शुद्धम्, आत्मानम्, युक्त्या, विविच्यात् ॥ १९ ॥

भाषार्थः-जैसे तुष कहिये भूसीसे ढका हुआ तण्डुलका स्वरूप शुक्ल और शुद्ध है और कूटकर उसे भूसीसे अलग कर लेते हैं उसी प्रकार पञ्चकोशोंसे ढका हुआ आत्मा भीतरसे निर्मल और शुद्ध है और ज्ञानी पुरुष अपनी विचारयुक्तिसे अलग कर लेते हैं और अन्नमयकोश कदापि आत्मा नहीं हो सक्ता है क्योंकि अन्नमयकोशको आत्मा मानोगे तो वर्तमान शरीरमें जो सुख दुःख भोगे जाते हैं वे विना कर्मकेही मानने पडेंगे और इस शरीरके जो अच्छे बुरे कर्म हैं उनका विना फलके भोगेही नाश मानना पडेगा इस प्रकार अकृतका प्राप्त होना और कृतका नाश ऐसा दोष पडेगा

क्योंकि शरीररूप आत्मा जन्मके पहिले और मरनेके पीछे नहीं रहता है फिर देखो कि अन्नमयकोश (देह) पृथ्वी आदि जड पदार्थोंकी समष्टिरूप और अनित्य तथा अस्थाई पदार्थ है और आत्मा नित्य अविनाशी है इसलिये आत्मा अन्नमयकोशरूप नहीं। और प्राणमयकोशरूप यों नहीं है कि अपञ्चीकृत पञ्चमहाभूतका कार्य वायुरूप जड पदार्थ है और आत्मा चेतनस्वरूप है। और आत्मा मनोमय कोशभी नहीं है कारण मनमें तो जब काम क्रोध आदि प्रबल होते हैं तो बहुतसे संकल्पविकल्परूपी विकार उत्पन्न होते हैं और आत्मा निर्विकार है। और आत्मा विज्ञानमयकोशभी नहीं है क्योंकि विज्ञानमयकोश सत्वगुणका कार्य और परिणामी है और आत्मा इससे भिन्न है। और आनन्दमयकोशभी आत्मा नहीं है क्योंकि आनन्दमयकोश समाधिकालमें लीन हो जाता है और उसकी वृत्ति अविद्या है और जडभी है आत्मा सर्वदा वृत्तिसे

रहित और नित्य चैतन्यरूप है । इस प्रकार आत्मा पंचकोशोंसे भिन्न सच्चिदानन्दस्वरूप है ॥ १५ ॥

कदाचित् यह कहो कि आत्मा तौ ब्रह्मस्वरूप और सर्वत्र व्यापक लिखा है फिर सर्वत्र प्रतीत क्यों नहीं होता है इस शंकाका समाधान लिखते हैं--

सदा सर्वगतोऽप्यात्मा न सर्वत्रावभासते । बुद्धावेवावभासेत स्वच्छेषु प्रतिबिम्बवत् ॥ १६ ॥

अन्वयः--आत्मा, सदा, सर्वगतः, अपि, सर्वत्र, न, अवभासते, स्वच्छेषु, प्रतिबिम्बवत्, बुद्धौ, एव अवभासेत ॥ १६ ॥

भाषार्थः--आत्मा सर्वदा सब जगह व्याप्त तौ है किन्तु सर्वत्र प्रतीत नहीं होता उसका भास केवल निर्मल बुद्धिमेंही पडता है जैसे घटपटादिको छोड मुखका प्रतिबिम्ब केवल दर्पणमेंही पडता है और देखो सूर्यका प्रकाश सर्वत्र है किन्तु उसका प्रति-

बिंब केवल निर्मल जलमेंही पडता है जलरहित घटपटादिमें नहीं पडता है। इससे यह बात सिद्ध है कि देह आदि रजोगुण तमोगुणके मलीन कार्य हैं उनमें आत्मा प्रतीत नहीं केवल स्वच्छ बुद्धिमें भासमान होता है ॥ १६ ॥

अब इस बातको दृष्टान्तसे वर्णन करते हैं कि देह इंद्रियादिमें आत्मा वर्त्तमान होनेपरभी उनसे भिन्न है–

देहेन्द्रियमनोबुद्धिप्रकृतिभ्यो वि-
लक्षणम् । तद्वृत्तिसाक्षिणं विद्या-
दात्मानं राजवत्सदा ॥ १७ ॥

अन्वयः–आत्मानम्, सदा, राजवत्, देहेन्द्रियमनोबुद्धिप्रकृतिभ्यः, विलक्षणम्, तद्वृत्तिसाक्षिणम्, विद्यात् ॥ १७ ॥

भाषार्थः–जैसे राजा सभामें स्थित होकर संपूर्ण मनुष्योंका साक्षी और प्रेरक है और उनसे

भिन्न है उसी प्रकार आत्माकोभी सर्वदा देह इन्द्रिय मन बुद्धि और प्रकृति कहिये माया इनसे भिन्न और इन्द्रियादिके जो देखना आदि व्यापार हैं उनका साक्षी जानना चाहिये ॥ १७ ॥

कदाचित् यह कहो कि आत्मा सबका साक्षी-भूत नहीं हो सक्ता क्योंकि वह तो देहेन्द्रियादिस-मूहमें व्यवहार करता हुआ प्रतीत होता है और साक्षी, साक्ष्यपदार्थोंसे भिन्न होता है इस शंकाका समाधान करते हैं–

व्यापृतेष्विन्द्रियेष्वात्मा व्यापारी-
वाऽविवेकिनाम् । दृश्यतेऽभ्रेषु
धावत्सु धावन्निव यथा शशी ॥ १८ ॥

अन्वयः–यथा, अभ्रेषु, धावत्सु, (सत्सु), शशी, धावन्, इव, दृश्यते, (तथा, एव) अविवेकिनाम्, इन्द्रियेषु, व्यापृतेषु, आत्मा, व्यापारी, इव, (दृश्यते) ॥ १८ ॥

भाषार्थः-जैसे जब आकाशमें पवनके वेगसे बादल चलते हैं तब अज्ञानी पुरुषोंको चन्द्रमा दौडता हुआ प्रतीत होता है और यथार्थमें चन्द्रमा दौडता नहीं उसी प्रकार जब इन्द्रियां व्यवहार करती हैं तब अज्ञानी पुरुषोंको आत्मा व्यवहार करता है ऐसा दीखता है परन्तु वास्तवमें आत्मामें कोईभी व्यापार नहीं केवल अविवेकियोंको भ्रम है ॥ १८ ॥

अब कदाचित् यह कहो कि इन्द्रियां आदि केवल व्यापाररूप हैं आत्मा नहीं है यह माना किन्तु व्यापार तो जबतक चेतनता न होगी तबतक हो नहीं सक्ता अत एव इन्द्रियादिमें चेतनशक्ति तो माननी पडेगी और जो इन्द्रियादिमें चेतनशक्ति मानेंगे तो इन्द्रियादिको आत्मारूप मानना पडेगा इस शंकाको निवृत्त करते हैं-

आत्मचैतन्यमाश्रित्य देहेन्द्रिय-
मनोधियः । स्वकीयार्थेषु वर्त्तन्ते
सूर्यालोकं यथा जनाः ॥ १९ ॥

अन्वयः-यथा, जनाः, सूर्यालोकम्, आश्रित्य, स्वकीयार्थेषु, वर्त्तन्ते, (तथा, इव), देहेन्द्रियमनोधियः, आत्मचैतन्यम्, (आश्रित्य, स्वकीयार्थेषु, वर्त्तन्ते) ॥ १९ ॥

भाषार्थः-जैसे सम्पूर्ण जन जब सूर्यका प्रकाश हो जाता है तब उसके आश्रयसे अपने २ कार्योंमें लगते हैं वैसेही देह इन्द्रिय मन बुद्धिभी आत्माके चेतनताका आश्रय लेकर अपने २ व्यापार करने लगते हैं अत एव जग देह इन्द्रिय आदिमें स्वतः चेतनता नहीं है और उनमें आत्मचैतन्य प्रतीत मात्र होता है तौ वे आत्मस्वरूप नहीं हो सक्ते ॥ १९ ॥

अब जो यह कहो कि ऊपर कहे हुए वाक्यसे आत्मा चेतनरूप तो निश्चित हो गया परन्तु उसमें जन्म, मरण, यौवन, वृद्ध, काण, बधिर आदि व्यवहार प्रतीत होते हैं इस कारण आत्मा जन्म मृत्युवाला प्रतीत होता है तहां कहते हैं कि-

देहेन्द्रियगुणान् कर्माण्यमले सच्चि-

दात्मनि । अध्यस्यन्त्यविवेकेन गगने नीलिमादिवत् ॥ २० ॥

अन्वयः–देहेन्द्रियगुणान्, कर्माणि, (च), अमले, सच्चिदात्मनि, अविवेकेन, गगने, नीलिमादिवत्, अध्यस्यन्ति ॥ २० ॥

भाषार्थः–अज्ञानी पुरुष इन्द्रियोंके जो धर्म अर्थात् अन्धत्व बधिरत्व और गमन आदि कर्म हैं उनको निर्मल (अर्थात् अज्ञानताके कार्य देह, इन्द्रिय, नाम, रूप, संसार आदिरूपी मलसे रहित) ऐसे सच्चिदानंदस्वरूप आत्मामें इस प्रकार अज्ञानसे आरोपण कर लेते हैं जैसे निर्मल आकाशमें नील पीत आदि रंगोंको मानते हैं सो यह केवल अज्ञान मात्र है बाकी आत्मामें जन्म मरण आदि कोई धर्म नहीं है ये धर्म तो देह आदिमें होते हैं ॥ २० ॥

जो कदाचित् यह शंका करो कि यद्यपि आत्मा देह इन्द्रियके जन्ममरणादि कुछ नहीं हैं तथापि "मैं दुःखी हूं, मैं सुखी हूं, मैं भोक्ता हूं" इत्यादि

प्रतीत होते हैं इसलिये आत्माको कर्ता भोक्ता मानना चाहिये जैसा कि न्यायमतावलम्बियोंने माना है क्योंकि कर्तृत्व भोक्तृत्व आदि अंतःकरणके धर्म हैं और अंतःकरण और आत्माकी एकरूपताके भ्रमसे आत्मामें माने गये हैं इसका समाधान करते हैं–

अज्ञानान्मानसोपाधेः कर्तृत्वादीनि चात्मनि । कल्प्यन्तेऽम्बुगते चन्द्रे चलनादिर्यथाम्भसः ॥ २१ ॥

अन्वयः–यथा, अम्भसः, चलनादिः, अम्बुगते, चन्द्रे, (कल्प्यते), (एवमेव), अज्ञानात्, मानसोपाधेः, कर्तृत्वादीनि, च, आत्मनि, कल्प्यंते॥२१॥

भाषार्थः–जलके जो चलन आदि धर्म हैं उनको जैसे जलमें पडा हुआ जो चंद्रमाका प्रतिबिंब है उसमें कल्पना करते हैं और यथार्थमें चंद्रमाके विषें नहीं हैं उसी प्रकार अज्ञानसे मनकी उपाधि अर्थात् अंतःकरणके "मैं कर्ता हूं, मैं भोक्ता हूं" आदि

धर्म आत्मामें कल्पना किये जाते हैं परंतु वास्तवमें आत्माके विषें कोई कर्तृत्व आदि धर्म नहीं ॥२१॥

अब जैसे आत्मामें कर्तृत्व भोक्तृत्व कल्पना कर लिये जाते हैं वैसेही अंतःकरणके जो रागद्वेषादि धर्म हैं उनकी कल्पनाभी आत्मामें केवल अज्ञानसे है यथार्थमें नहीं है इसको अन्वयव्यतिरेकसे वर्णन करते हैं—

रागेच्छासुखदुःखादिर्बुद्धौ सत्यां प्रवर्तते । सुषुप्तौ नास्ति तन्नाशे तस्माद्बुद्धेस्तु नात्मनः ॥ २२ ॥

अन्वयः—बुद्धौ, सत्याम्, रागेच्छासुखदुःखादिः प्रवर्तते; (यतः), सुषुप्तौ, तन्नाशे, न, अस्ति; तस्मात्, (रागेच्छासुखदुःखादिः), बुद्धेः, (अस्ति); आत्मनः, न ॥ २२ ॥

भाषार्थः—राग इच्छा सुख दुःख आदि ये संपूर्ण धर्म बुद्धिके हैं सो जब जाग्रत् और स्वप्नावस्थामें बुद्धि रहती है तब ये उत्पन्न होते हैं और सुषुप्ति

अवस्थामें बुद्धिका नाश होनेपर कोई धर्म प्रवृत्त नहीं होता है इसलिये सब धर्म बुद्धिकेही हैं आत्माके नहीं हैं। कारणके होनेपर कार्यके होनेको अन्वय कहते हैं और कारणके न होनेपर कार्य-काभी न होना इसको व्यतिरेकी कहते हैं; यहां जाग्रत् और स्वप्नावस्थामें जब कारणरूप बुद्धि रहती है तब कार्यरूप रागद्वेषादिभी होते हैं और सुषुप्ति अवस्थामें कारणरूप बुद्धि रहती नहीं है क्योंकि अज्ञानमें लय हो जाती है इसलिये कार्य-रूप रागद्वेषादि नहीं होते हैं यही व्यतिरेकता है अत एव आत्मा निर्विकार सच्चिदानन्दस्वरूप है ॥२२॥

अब आत्माके स्वभावका वर्णन करते हैं-

प्रकाशोऽर्कस्य तोयस्य शैत्यमग्नेर्य-
थोष्णता । स्वभावः सच्चिदानन्दनि-
त्यनिर्मलतात्मनः ॥ २३ ॥

अन्वयः-यथा, अर्कस्य, प्रकाशः, तोयस्य, शै-त्यम्, अग्नेः, उष्णता, स्वभावः (तथा, एव), आत्म-

नः, सच्चिदानन्दनित्यनिर्मलता, (स्वभावः) ॥२३॥

भाषार्थः—जैसे सूर्यका स्वभाव प्रकाश है जलका स्वभाव शीत अग्निका स्वभाव उष्ण है वैसेही आत्माका स्वभाव सच्चिदानन्द और नित्य निर्मल है ॥ २३ ॥

कदाचित् यह शंका करो कि आत्मा तो "मैं सुखी हूं" "मैं दुःखी हूं" इत्यादि अनुभवसे सुख दुःख आदिका आश्रय प्रतीत होता है उसको तुम सच्चिदानन्द निर्विकार कैसे कहते हो इसका समाधान करते हैं—

आत्मनः सच्चिदंशश्च बुद्धेर्वृत्तिरिति द्वयम् । संयोज्य चाविवेकेन जानामीति प्रवर्तते ॥ २४ ॥

अन्वयः—आत्मनः, सच्चिदंशः, बुद्धेः, वृत्तिः, च, इति, द्वयम्, अविवेकेन, संयोज्य, जानामि, इति, प्रवर्तते ॥ २४ ॥

भाषार्थः-प्रत्यगात्मा, आत्माका वह सत् चित् अंश है जो बुद्धिकी वृत्तिमें आत्माकी छाया पडती है और अज्ञानरूप आनन्दका अंश जो बुद्धिकी वृत्ति है इन दोनोंको एकत्र करके जीव " मैं दुःखी हूं, मैं सुखी हूं " आदि अज्ञानसे मानता है परन्तु यथार्थमें आत्मा असंग है और उसमें किसीका सबन्ध नहीं है अत एव उसमें श्रवण, सुख, दुःख आदि नहीं हो सके क्योंकि बुद्धिका परिणाम ज्ञान और सुखाकार वृत्ति है और यही कारण है कि ज्ञान आदिका आश्रय बुद्धि है और आत्मा नहीं है और जो आत्मामें ज्ञान सुख आदि प्रतीत होते हैं सो बुद्धि और आत्माकी एकरूपतासे दीखते हैं वह केवल भ्रम है क्योंकि आत्मा तो निर्विकार सच्चिदानन्दस्वरूप है ॥ २४ ॥

अब आत्माका निर्विकारत्व और सच्चिदानन्दरूपत्व वर्णन करते हैं-

आत्मनो विक्रिया नास्ति बुद्धेर्बो-

धो न जात्विति । जीवः सर्वमलं ज्ञात्वा कर्त्ता द्रष्टेति मुह्यति ॥ २९ ॥

अन्वयः-आत्मनः, विक्रिया, न, अस्ति, बुद्धेः, जातु, बोधः, न, (अस्ति), इति, जीवः, सर्वमलम्, ज्ञात्वा, कर्त्ता, द्रष्टा, इति, मुह्यति ॥ २९ ॥

भाषार्थः-आत्मामें किसी प्रकारका विचार नहीं है और बुद्धिमें कदापि ज्ञान नहीं है। यह जीव अपनेमें सबको जानकर "मैं कर्त्ता हूं" "मैं द्रष्टा हूं" इस प्रकार केवल मोहको प्राप्त होता है। और ऐसाही श्रुतिमेंभी लिखा है कि "निर्गुणं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्" अर्थात् आत्मा निर्गुण क्रियारहित शान्तस्वरूप निष्पाप और निर्मल है। और गीतामेंभी यह लिखा है कि "अव्यक्तोयमचिन्त्योयमविकार्योयमुच्यते॥" अर्थात् आत्मा अव्यक्त अचिन्त्य और विकार-रहित है और बुद्धिमें ज्ञान यों नहीं है कि बुद्धि मायाका कार्य होनेसे जड है तोभी अन्तःकरणमें

प्रतिबिम्बित जो चेतनकी चेतना है उससे देह इन्द्रियादि संपूर्ण जड पदार्थ चेतनरूपसे प्रतीत होते हैं और यही कारण है कि जब बुद्धि और आत्माका अभेदज्ञान हो जाता है तब बुद्धिके कर्ता भोक्ता आदि धर्म आत्मामें भ्रमसे दीखते हैं ॥ २८ ॥

अब आत्मामें मिथ्या आरोपित अज्ञानका फल और तत्त्वज्ञानका फल कहते हैं–

रज्जुसर्पवदात्मानं जीवं ज्ञात्वा भयं वहेत् । नाहं जीवः परात्मेति ज्ञातं चेन्निर्भयो भवेत् ॥ २९ ॥

अन्वयः–(पुरुषः), आत्मानम्, रज्जुसर्पवत्, जीवम्, ज्ञात्वा, भयम्, वहेत्, अहम्, जीवः, न, (किन्तु), परात्मा, इति, ज्ञातम्, चेत्, निर्भयः, भवेत् ॥ २९ ॥

भाषार्थः–जैसे पुरुष अंधेरेमें पडी हुई रस्सीको भ्रमसे सर्प जानकर डरने और कांपने लगता है

वैसेही मनुष्य आत्माको अज्ञानसे जीव मानकर संसारके अनेक दुःखोंको सहता है और जब पुरुषको यह ज्ञान हो जाय कि मैं जीव नहीं हूं किन्तु परमात्मा हूं तब निर्भय हो जाता है और ऐसाही श्रुतिमेंभी कहा है कि " द्वितीयाद्वै भयं भवति " अर्थात् पुरुषको द्वैतज्ञानसे निश्चय भयं होता है और " उदरमन्तरं कुरुते अथ तस्य भय भवति " अर्थात् अपने और आत्मामें जो भेद मानता है उसको जन्ममरणादि भय होते हैं । औरभी कहा है कि " न चेदवेदीन्महती विनष्टिः " अर्थात् जिसको आत्मस्वरूपका ज्ञान नहीं हुआ उसकी बहुत हानि हुई । फिर स्मृतिकाभी वाक्य है कि " ईषदप्यन्तरं कृत्वा रौरवं नरकं व्रजेत् " अर्थात् जीवात्मा परमात्मामें थोडाभी अन्तर करनेसे मनुष्य रौरव नरकमें जाता है । और जब मनुष्यको " तत्वमसि " आदि वाक्योंसे ऐसा ज्ञान हो जाता है कि मैं जीव नहीं हूं किन्तु अखंड सच्चिदानन्द जगत्साक्षी असंग परमात्मा परब्रह्मस्वरूप हूं तब उसको जन्ममरणादि

भय दूर हो जाता है और ऐसाही श्रुतिमेंभी लिखा है कि "ब्रह्मविद्ब्रह्मैव भवति" अर्थात् जो ब्रह्मको जानता है वह ब्रह्मही हो जाता है ॥ २६ ॥

जो कदाचित् यह कहो कि आत्मा तो मन और बुद्धिके निकटही है फिर बुद्धि आदिको आत्मा प्रत्यक्ष क्यों नहीं होता है तहां कहते हैं कि-

आत्मावभासयत्येको बुद्ध्यादी-
नीन्द्रियाणि च। दीपो घटादिव-
त्स्वात्मा जडैस्तैर्नावभास्यते ॥ २७ ॥

अन्वयः-एकः, आत्मा, इंद्रियाणि, बुद्ध्यादीनि, च, दीपः, घटादिवत्, अवभासयति, तैः, जडैः, (इंद्रियादिभिर्बुद्ध्यादिभिश्च), स्वात्मा, न, अवभास्यते ॥ २७ ॥

भाषार्थः-सम्पूर्ण इन्द्रियोंको और बुद्धि आदिको केवल एक आत्माही इस प्रकार प्रकाशित करता है कि जैसे दीपक घटादिवस्तुओंको और मन बुद्धि आदि जो जड पदार्थ हैं उनसे आत्मा

प्रकाशित नहीं होता है कि जैसे घटादि मलिन पदार्थ दीपकको प्रकाशित नहीं कर सक्ते अत एव यह बात सिद्ध हुई कि आत्मा तौ मन बुद्धि आदिका साक्षी है और उनको जानता है और मन बुद्धि आदि जड पदार्थ आत्माके स्वरूपको नहीं जानते ॥ २७ ॥

जो कदाचित् यह कहो कि जब आत्मा बुद्धि करके प्रकाशित नहीं होता है तौ फिर आत्मस्वरूपका किस प्रकार ज्ञान हो सक्ता है तहां समाधान करते हैं—

स्वबोधे नान्यबोधेच्छा बोधरूपतयाऽत्मनः । न दीपस्यान्यदीपेच्छा यथा स्वात्मा प्रकाशते ॥ २८ ॥

अन्वयः—यथा, दीपस्य, अन्यदीपेच्छा, न, (भवति), (तथा), आत्मनः बोधरूपतया, स्वबोधे, (आत्मनि), अन्यबोधेच्छा, न; (किन्तु), स्वात्मा, (स्वयं), प्रकाशते ॥ २८ ॥

भाषार्थः-जिस प्रकार दीपकको अपने प्रकाश करनेके लिये दूसरे दीपकी इच्छा (आवश्यकता) नहीं होती है उसी प्रकार आत्माको स्वयंबोधरूप होनेके कारण बोधरूप आत्माके बोधमें अन्य बोधकी अपेक्षा नहीं है क्योंकि आत्मा तौ स्वयं प्रकाशित होता है ॥ २८ ॥

जो कदाचित् यह शंका करो कि आत्मा तौ आपही साक्षात्कार है अत एव पुरुष विनाही यत्न किये मुक्त हो जांयगे और श्रवण मनन आदि जो मुक्तिके उपाय हैं वे सब निष्फल हो जांयगे तहां शंकाका समाधान करते हैं कि-

निषिध्य निखिलोपाधीन्नेति नेती-
ति वाक्यतः । विद्यादैक्यं महावा-
क्यैर्जीवात्मपरमात्मनोः ॥ २९ ॥

अन्वयः-नेति नेति इति, वाक्यतः, निखिलोपाधीन्, निषिध्य, महावाक्यैः, जीवात्मपरमात्मनोः, ऐक्यम्, विद्यात् ॥ २९ ॥

भाषार्थः—नेति नेति इस वाक्यसे सब उपाधियोंका निषेध करके " तत्वमसि " आदि महावाक्योंसे जीव और परमात्माकी एकताको जाने अर्थात् " स एष आदेशो नेति नेतीत्यतन्निरसनम् " इस व्यासजीके कथित सूत्रके अनुसार यह उपदेश है कि " नेति नेति " अर्थात् यह आत्मा नहीं है नहीं है इस प्रकार श्रुतियोंके वचनोंसे आत्मासे जो भिन्न है उसका त्याग करे अर्थात् जड और अनित्य समझे और इस प्रकार जब स्थूल सूक्ष्म और कार्य कारणरूप नामरूपात्मक जगत्को अनित्य जान ले तिसके पीछे " तत्वमसि, अयमात्मा ब्रह्म, प्रज्ञानं ब्रह्म, अहं ब्रह्मास्मि " अर्थात् वह ब्रह्म तू है, यह जीवात्मा ब्रह्म है, प्रज्ञान ब्रह्म है, मैं ब्रह्म हूं इन महावाक्योंकरके जीवात्मा और परमात्मा इन दोनोंकी एकताको जाने और उस जाननेहीको मुक्तिका कारण कहते हैं । और महावाक्योंसे एकताका ज्ञान किस प्रकार होता है उन तीन संबन्धोंको कहते हैं कि संबन्ध

तीन प्रकारके हैं सामानाधिकरण्य, विशेषणविशे-
ष्यभाव और लक्ष्यलक्षणभाव इन तीनोंमें सामा-
नाधिकरण्य संबंध दो प्रकारका है एक मुख्य सा-
मानाधिकरण्य और दूसरा बाधसामानाधिकरण्य
मुख्य सामानाधिकरण्य संबन्ध उसे कहते हैं कि
जहां एक वस्तुका एक वस्तुके साथ सर्वदा अभेद
हो जैसे सुवर्णका और सुवर्णके बने हुए आभूषणों-
का । और बाधसामानाधिकरण्य संबन्ध वह है कि
जहां एक वस्तुका एक वस्तुके साथ बाध करके
संबन्ध हो जैसे सुवर्णके डेलेका जब कोई कुंडल
आदि आभूषण बन गया तबभी कुंडलादि भूषणके
नाम और रूपको बाधकरके पूर्वोक्त सामान्य सुव-
र्णके साथ उसका अभेद है । अथवा वहां होता है
कि जहां दो पदोंका परस्पर भेद हो किन्तु अर्थ
एकही हो जैसे घट और कुंभ शब्द तो अलग २
हैं परन्तु अर्थ दोनोंका एकही है अथवा जैसे "सो-
ऽयं देवदत्तः" अर्थात् यह वह देवदत्त है (जिसको

वाराणसीमें देखा था) इस वाक्यमें 'सः अयं देव-

दत्तः' ये तीन पद हैं। उनमेंसे "सः" पद परोक्ष देश और कालका बोध कराता है और "अयं" पद परोक्ष देश काल वृत्तिका बोध कराता है और इस तरह इन दोनों पदोंका भिन्न २ अर्थ है, किन्तु दोनों पदोंका संबन्ध एक देवदत्तमेंही है इसलिये बाधसामानाधिकरण्य संबन्ध हुआ। और ऐसेही "तत्त्वमसि" आदि महावाक्योंमें "तत्" पदका वाच्य अर्थ, परोक्ष आदि विशेषणविशिष्ट चेतन होता है और "त्वं" पदका वाच्य अर्थ अपरोक्ष आदि विशेषणसहित चेतन है और विशेषणोंको त्यागकर इन दोनों पदोंका असि (है) इस पदमें सामानाधिकरण्य है। और दूसरा विशेषणविशेष्य-भावसंबन्ध यह है कि जैसे "सोऽयं देवदत्तः" अर्थात् यह वही देवदत्त है यहां सः और अयं ये दो पद देवदत्तपदके विशेषण हैं और देवदत्त विशेष्य है और ये दोनों पद अपने २ देश और कालरूप अर्थको त्यागकर देवदत्तके स्वरूपको जतलाते हैं। और इसी प्रकार "तत्त्वमसि" आदि महावाक्यों-

मेंभी "तत्" पदका अर्थ तो परोक्षआदि विशेषण सहित है और "त्वं" पदका अर्थ अपरोक्ष आदि विशेषणसहित चेतन है और इन दोनों विशेषणोंको त्यागकर दोनों पदोंका असि (है) इस पदमें सामानाधिकरण्य होता है इसलिये यहां विशेषणविशेष्य भावसंबन्ध है। और तीसरा लक्ष्यलक्षणभावसंबन्ध है जैसे "सोऽयं देवदत्तः" यहां "सः अयम्" इन दोनों पदोंसे देशकाल आदि विशेषणोंको छोडकर देवदत्तमात्रही लक्षित होता है। और ऐसेही "तत्वमसि" आदि महावाक्योंमेंभी "तत्" पदका अर्थ अद्वितीय अपरोक्षव्यापक चेतन है और "त्वं" पदका अर्थ साद्वितीय अपरोक्ष परिछिन्न चेतन है इन विरुद्ध धर्मोंको छोडकर एक चेतन जो विरुद्ध धर्मरहित लक्ष्य अर्थ है सो लक्षित होता है और इन पूर्वोक्त तीनों संबन्धोंके द्वारा लक्षणसे जीव और ब्रह्मकी एकता सिद्ध होती है इसलिये अब लक्षणाका वर्णन करते हैं कि लक्षणा तीन

प्रकारकी है जहल्लक्षणा, अजहल्लक्षणा, जहदजहल्-

क्षणा। जहल्लक्षणा किसे कहते हैं तहां कहते हैं कि जैसे "गंगायां घोषः" गंगामें अहीर रहता है यहां जलप्रवाहरूप गंगाका जो वाच्य कहिये मुख्य अर्थ है उसमें अहीरका रहना असंभव है क्योंकि गंगाके बीचमें पानीपर अहीर रह नहीं सक्ता इस लिये यहां प्रवाहरूप जो वाच्य अर्थ है उसको छोडकर गंगापदकी तटमें लक्षणा कर ली अर्थात् गंगाजीके तटपर अहीर रहता है ऐसा माना तौ यहां गंगापदका सम्पूर्ण वाच्य अर्थ छूट गया इसलिये इसको जहल्लक्षणा कहते हैं। और "तत्त्वमसि" आदि महावाक्योंमें तत् त्वम् दोनोंका चेतनरूप एक अर्थ है सो अर्थका त्याग न होनेसे जहल्लक्षणा हो नहीं सक्ती अब अजहल्लक्षणाका वर्णन करते हैं कि जैसे "अरुणो धावति" अर्थात् अरुण (लालरंग) दौडता है यहां लाल रंगमें दौडना असंभव है इसलिये अरुण (लाल) पदकी लक्षणा लाल घोडेमें है यहां अरुण पदकी अपने लाल

अर्थको न त्यागकर घोडेरूप दूसरे पदार्थमें लक्षणा हुई इसलिये यह अजहल्लक्षणा हुई । यह लक्षणाभी "तत्वमसि" आदि महावाक्योंमें नहीं हो सक्ती क्योंकि उनमें संपूर्ण वाच्य अर्थका ग्रहण नहीं है । अब जहदजहल्लक्षणाको कहते हैं कि जहां किंचित् अर्थका त्याग और किंचित् अर्थका ग्रहण हो वह जहदजहल्लक्षणा होती है और यही लक्षणा "तत्वमसि" आदि महावाक्योंमें इस प्रकार घटती है जैसे "सोऽयं देवदत्तः" यह (वही देवदत्त है) इस वाक्यमें देश काल और पुष्ट कृश आदि विशेषणोंका त्याग है और पिंडमात्र देवदत्तका ग्रहण होता है इसलिये जहदजहल्लक्षणाही होती है और ऐसेही "तत्वमसि" आदि महावाक्योंमेंभी समष्टि (सब मिला हुआ) व्यष्टि (जुदा २) स्थूल सूक्ष्म आदि विरुद्ध अंशको त्याग देनेसे व्यापक अखंड चैतन्यमात्रका बोध होता है । और इसी लक्षणाको भागत्यागलक्षणाभी कहते हैं ॥ २९ ॥

कदाचित् यह कहो कि चेतन तो असंग है इसलिये उपाधियोंको त्यागन करनेमेंभी कोई हानि नहीं है तहां कहते हैं—

आविद्यिकं शरीरादि दृश्यं बुद्बुदवत्क्षरम् । एतद्विलक्षणं विन्द्यादहं ब्रह्मेति निर्मलम् ॥ ३० ॥

अन्वयः—आविद्यिकम्, दृश्यम्, शरीरादि, बुद्बुदवत्, क्षरम्, (अस्ति); एतद्विलक्षणम्, अहं, ब्रह्म, इति, निर्मलम्, विन्द्यात् ॥ ३० ॥

भावार्थः—अज्ञानसे कल्पित जो शरीर आदि जड पदार्थ दीखते हैं उनको पानीके बुलबुलेके समान नाशवान् समझना चाहिये और इनसे विलक्षण अर्थात् सच्चिदानन्दस्वरूप और निर्मल कहिये उपाधिरूप मलोंसे रहित जो ब्रह्म है सोही मैं हूं ऐसा जान ॥ ३० ॥

अब महावाक्योंसे उत्पन्न हुई जीव और ब्रह्मकी एकतासे मननका प्रकार लिखते हैं—

देहान्यत्वान्न मे जन्मजराकार्श्य-
लयादयः । शब्दादिविषयैः सङ्गो
निरिन्द्रियतया न च ॥ ३१ ॥

अन्वयः–देहान्यत्वात्, निरिन्द्रियतया, च, मे, जन्मजराकार्श्यलयादयः, न, (सन्ति), शब्दादिविषयैः, संगः, (च), न, (अस्ति) ॥ ३१ ॥

भाषार्थः–मैं देह कहिये स्थूल और सूक्ष्मरूपसे अलग हूं इसलिये मुझको जन्म, वृद्धावस्था, दुर्बलता और मरण आदि नहीं होते (और आदिपद जो दिया है उससे क्षुधा, तृषा, देहके धर्मभी मुझे नहीं सताते हैं) और मैं इन्द्रियोंसे रहित हूं इस कारण शब्द आदि विषयोंसेभी मेरा कुछ संबन्ध नहीं है । सारांश यह है कि मैं संगरहित निर्मलस्वभाव ब्रह्म हूं इस प्रकार मनन करना चाहिये ॥ ३१ ॥

अब आत्माके विषें मनके धर्मोंका निषेध करते हैं–

अमनस्त्वान्न मे दुःखरागद्वेषभयादयः । अप्राणो ह्यमनाः शुभ्र इत्यादि श्रुतिशासनात् ॥ ३२ ॥

अन्वयः—अप्राणः, हि, अमनाः, शुभ्रः, इत्यादिश्रुतिशासनात्, अमनस्त्वात्, मे, दुःखरागद्वेषभयादयः, न ॥ ३२ ॥

भाषार्थः—मनसे भिन्न होनेके कारण मुझमें दुःख राग द्वेष भयादिक नहीं हैं और मैं प्राणोंसे भिन्न हूं इसलिये क्षुधा तृषा आदि जो प्राणोंके धर्म हैं वेभी मुझमें नहीं हैं और ऐसाही श्रुतिमेंभी कहा है कि परमात्मा प्राण और मनसे भिन्न है और शुभ्र कहिये अविद्याके मलसे रहित है। तात्पर्य यह हुआ कि परमात्मा केवल अखण्ड सच्चिदानन्दरूप विकाररहित शुद्धचैतन्यरूप है ॥ ३२ ॥

अब इस बातका वर्णन करते हैं कि प्राण यदि परमात्मासे उत्पन्न होनेके कारण अनित्य है—

एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च । खं वायुर्ज्योतिरापश्च पृथ्वी विश्वस्य धारिणी ॥ ३३ ॥

अन्वयः—प्राणः, मनः, सर्वेन्द्रियाणि, च, खम्, वायुः, ज्योतिः, आपः, विश्वस्य, धारिणी, पृथ्वी, च, एतस्मात्, (ब्रह्मणः,) जायते ॥ ३३ ॥

भाषार्थः—प्राण, मन, सब इन्द्रियां, आकाश, वायु, अग्नि, जल और स्थावर जंगमरूप संसारके धारण करनेवाली पृथिवी ये सब प्रपञ्च अनादि अविद्याके द्वारा उसी परब्रह्मसे उत्पन्न होते हैं॥ ३३॥

निर्गुणो निष्क्रियो नित्यो निर्विकल्पो निरंजनः । निर्विकारो निराकारो नित्यमुक्तोऽस्मि निर्मलः ॥ ३४ ॥

अन्वयः—(अहम्), निर्गुणः, निष्क्रियः, नित्यः, निर्विकल्पः, निरञ्जनः, निर्विकारः, निराकारः, नित्यमुक्तः, निर्मलः, अस्मि ॥ ३४ ॥

भाषार्थः-मैं निर्गुण हूं अर्थात् माया और उसका कार्य जो बुद्धि-सत्वगुण राग इच्छा आदि इनसे भिन्न हूं और देह आदि क्रियासे हीन हूं और नित्यं हूं अर्थात् सर्वदा चैतन्यस्वरूप हूं और निर्विकल्प हूं अर्थात् संकल्प विकल्प जो मनके धर्म हैं उनसे रहित हूं निरञ्जन हूं अर्थात् मायाका कार्य जो संसाररूपी मल है उससे रहित हूं निर्विकार हूं अर्थात् मायाकरके मिथ्या कल्पित किया गया जो यह संसार है उसका अधिष्ठानरूप हूं निराकार हूं अर्थात् आकाशके समान स्वतंत्र और अवयव-रहित हूं और नित्यमुक्त हूं अर्थात् अज्ञानसे कल्पना किये गये जो मोह आदि बन्धन तिनसे रहित हूं और निर्मल हूं अर्थात् मायारूपी मलभी मुझमें नहीं है इस प्रकार अपने रूपको जानना चाहिये ॥३४॥

जो कदाचित् यह कहो कि आत्माका रूप तो जैसा कह आये हो वैसाही है किन्तु देहवान् प्रतीत होता है इसलिये परिच्छिन्नता तो अवश्यही होगी इस शंकाको दूर करते हैं-

अहमाकाशवत्सर्वबाहिरन्तर्गतोऽच्युतः। सदा सर्वसमः शुद्धो निःसङ्गो निर्मलोऽचलः ॥ ३५ ॥

अन्वयः—अहम्, सदा, आकाशवत्, सर्वबाहिरन्तर्गतः, अच्युतः, सर्वसमः, शुद्धः, निःसंगः, निर्मलः, अचलः, (अस्मि) ॥ ३५ ॥

भाषार्थः—मैं सर्वदा आकाशके समान सब जड और दृश्य पदार्थोंके भीतर व्याप्त हूं और सबसे भिन्न हूं किसीमें लिप्त नहीं हूं (कदाचित् कहो कि दृश्यपदार्थोंका तौ नाश हो जाता है फिर आत्मा-का नाश क्यों नहीं होता है तहां कहते हैं कि) मैं अच्युत हूं अर्थात् जब यह कल्पित संसार नष्ट हो जाता है तबभी मैं यथावस्थित रहता हूं क्योंकि मैं अधिष्ठानरूप हूं। अच्छा तू अधिष्ठानरूप होनेसे विनाशरहित तौ है परन्तु अंतःकरणमें तौ तेरी सत्ता और चेतनता दोनों प्रतीत होती हैं और घट आदिमें केवल सत्ताही प्रतीत होती है चेतना नहीं

इस कारण आत्मामें विषमता है क्योंकि आत्मा सब पदार्थोंमें तुल्य है और सतोगुणके कार्य होनेसे स्वच्छ अन्तःकरण आदिमें सत्ता और चेतना दोनों प्रतीत होती हैं इसमें इस आत्माका क्या अपराध है और मैं शुद्ध अर्थात् पुण्य पापसे रहित हूं और असंग हूं अर्थात् सबके संबन्धसे भिन्न हूं और निर्मल हूं अर्थात् संशयादिरूपी मलोंसे रहित हूं और अचल हूं क्योंकि सच्चिदानन्द अपने धर्मोंसे चलायमान नहीं होता है ॥ ३८ ॥

जैसे कि "त्वंपदार्थ" जीवात्माका लक्ष्य स्वरूप वर्णन किया था उसी प्रकार तत्पदार्थ परमात्माका लक्ष्यस्वरूप वर्णन किया और अब उन दोनोंकी एकता सिद्ध करते हैं—

नित्यशुद्धविमुक्तैकमखण्डानन्दमद्वयम् । सत्यं ज्ञानमनन्तं यत्परं ब्रह्माहमेव तत् ॥ ३९ ॥

अन्वयः—यत्, नित्यशुद्धविमुक्तैकम्, अखण्डा-

नन्दम्, अद्वयम्, सत्यम्, ज्ञानम्, अनन्तम्, परम्, ब्रह्म, तत्, अहम्, एव, (अस्मि) ॥ ३६ ॥

भाषार्थः—जो नित्य अर्थात् तीनों कालोंमें शुद्ध कहिये अविद्या आदि मलसे रहित और विमुक्त अर्थात् संसारसे विरक्त और एक कहिये सजातीय भेदशून्य और अखण्ड कहिये देशकालपरिच्छेद-शून्य तथा आनन्दस्वरूप अद्वितीय कहिये विजातीय और स्वगतभेदशून्य जो सत्यज्ञान अनन्तस्वरूप ब्रह्म है सो मैंही हूं । और श्रुतिमेंभी यही कहा है कि " सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म " ॥ ३६ ॥

अब बहुत कालपर्यन्त अभ्यास करनेसे जब ब्रह्म दृढ हो जाता है और आत्माका ज्ञान हो जाता है तब उसका क्या फल होता है सो दिखाते हैं—

एवं निरन्तराभ्यस्ता ब्रह्मैवास्मी-
ति वासना । हरत्यविद्याविक्षेपान्
रोगानिव रसायनम् ॥ ३७ ॥

अन्वयः—(अहम्), ब्रह्म, एव, अस्मि, एवम्, निरन्तराभ्यस्ता, वासना, रसायनम्, रोगान्, इव, अविद्याविक्षेपान्, हरति ॥ ३७ ॥

भाषार्थः—मैं ब्रह्मही हूं इस प्रकार निरन्तर अभ्यास करनेसे जो वासना उत्पन्न होती है वह चित्तके विक्षेपको अर्थात् आत्मा और ब्रह्मके भेद-ज्ञानको इस प्रकार नाश कर देती है जिस प्रकार बहुत कालतक सेवन करनेसे रसायन औषधि रोगोंको नष्ट कर देती है ॥ ३७ ॥

अब ब्रह्म और आत्माकी एकताके साधन कहते हैं—

विविक्तदेश आसीनो विरागो वि-
जितेन्द्रियः । भावयेदेकमात्मानं
तमनन्तमनन्यधीः ॥ ३८ ॥

अन्वयः—(पुरुषः), विरागः, विजितेन्द्रियः, अनन्यधीः, विविक्तदेशे, आसीनः, (सन्), तम्, अनन्तम्, एकम्, आत्मानम्, भावयेत् ॥ ३८ ॥

भाषार्थः-विराग अर्थात् शब्दादि विषयोंकी इच्छासे रहित और जिससे विशेष करके इन्द्रियोंको वशमें कर लिया है और अनन्यधी अर्थात् ब्रह्ममें निश्चलबुद्धिवाला अर्थात् जो यह माने कि मैं ब्रह्मसे भिन्न नहीं हूं ऐसा पुरुष एकान्तमें बैठा हुआ अद्वितीय अविनाशी आत्माका साधन करे तब ब्रह्म और आत्माकी एकताका ज्ञान होता है ॥ ३८ ॥

कदाचित् यह कहो कि दृश्यप्रपंच तो व्यवहार दशामें प्रत्यक्ष है फिर एकताकी साधना किस प्रकारसे होगी तहां कहते हैं-

आत्मन्येवाखिलं दृश्यं प्रविलाप्य धिया सुधीः । भावयेदेकमात्मानं निर्मलाकाशवत्सदा ॥ ३९ ॥

अन्वयः-सुधीः, अखिलम्, दृश्यम्, धिया, आत्मनि, एव, प्रविलाप्य, सदा, निर्मलाकाशवत्, आत्मानम्, एकं, भावयेत् ॥ ३९ ॥

भाषार्थः—सुधी अर्थात् जिसका अन्तःकरण शुद्ध है ऐसा अधिकारी पुरुष संपूर्ण दृश्यप्रपञ्चको अपनी बुद्धिसे आत्मामेंही लीन करके अर्थात् आत्मामें जो कथनमात्र विकार है उसे दूर करके पृथ्वीको जलमें लीन करे, जलको तेजमें लीन करे, तेजको वायुमें लीन करे, वायुको आकाशमें लीन करे और आकाशको मूलप्रकृति जो माया है उसमें लीन करे और मूलप्रकृति मायाको शुद्ध ब्रह्ममें लीन करे इसके पीछे आत्माको इस प्रकार एकरस चिंतवन करे कि जैसे शरत्कालमें आकाश निर्मल होता है ॥ ३९ ॥

विवेकी पुरुष सम्पूर्ण दृश्यप्रपञ्चको त्यागकर समाधिके विषें किस रूपसे स्थित होता है सो कहते हैं:—

नामवर्णादिकं सर्वं विहाय परमार्थवित् । परिपूर्णचिदानन्दस्वरूपेणावतिष्ठते ॥ ४० ॥

अन्वयः-परमार्थवित्, सर्वम्, नामवर्णादिकम्, विहाय, परिपूर्णचिदानन्दस्वरूपेण, अवतिष्ठते ॥ ४० ॥

भाषार्थः—परमार्थ अर्थात् मोक्ष अथवा ब्रह्मरूपका जाननेवाला ज्ञानी पुरुष नानावर्णादिक कहिये दृश्यमान प्रपञ्च जो जाति मूर्ति आदि हैं, उन सबको त्यागकर परिपूर्ण व्यापक अधिष्ठान, अन्तर्यामी, सच्चिदानन्दस्वरूप होकर स्थित होता है अर्थात् अपने आत्माको परिपूर्ण आदिस्वरूपही मानता है जैसा कि कृष्णचंद्रने गीतामें वर्णन किया है कि "यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता। योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः ॥" अर्थात् जैसे वायुरहित स्थानमें दीपक निश्चल स्थित होता है वैसेही जिस योगीका चित्त वशमें है और जो योगमार्गमें लगा है वह निश्चल है ॥ ४० ॥

जो यह कहो कि समाधिमें जब पृथ्वी आदि दृश्य प्रपंच लय हो जांयगे तब ज्ञाता ज्ञान और ज्ञेयके भेदरूप त्रिपुटी प्रपंचके लयके होनेपर पूर्वोक्त

दीपककी उपमा कैसे घटेगी इस शंकाको आगेके श्लोकसे दूर करते हैं-

ज्ञातृज्ञानज्ञेयभेदः परात्मनि न विद्यते। चिदानन्दैकरूपत्वाद्दीप्यते स्वयमेव हि॥ ४१॥

अन्वयः-चिदानन्दैकरूपत्वात्, परात्मनि, ज्ञातृज्ञानज्ञेयभेदः, न, विद्यते; (परात्मा), हि, स्वयम्, एव, दीप्यते॥ ४१॥

भाषार्थः-परमात्मामें ज्ञाता ज्ञान और ज्ञेयका भेद नहीं होता है क्योंकि वह परमात्मा तो चिदानन्दस्वरूप होनेसे आपही प्रकाशित होता है अर्थात् उसके ज्ञानके लिये किसीभी ज्ञानकी आवश्यकता नहीं है। सारांश यह है कि सविकल्पसमाधिमें ज्ञाता आदिका भेदप्रतीत होता है और निर्विकल्प समाधिमें नहीं होता॥ ४१॥

अब उस प्रयत्नके प्रत्यक्ष फलका वर्णन करते हैं

कि जो ब्रह्म और आत्माकी एकताके लिये किया जाता है-

एवमात्मारणौ ध्यानमथने सततं कृते । उदितावगतिर्ज्वाला सर्वाज्ञानेन्धनं दहेत् ॥ ४२ ॥

अन्वयः--एवम्, आत्मारणौ, सततम्, ध्यानमथने, कृते, अवगतिः, ज्वाला, उदिता, (सती), सर्वाज्ञानेन्धनम्, दहेत् ॥ ४२ ॥

भाषार्थः—इस प्रकार आत्मारूपी अरणिके ध्यानरूपके साथ निरंतर मथन होनेपर अर्थात् आपसमें रगड खानेसे प्रगट हुई ज्ञानस्वरूप ज्वाला सम्पूर्ण अज्ञान और जन्ममरणादि अज्ञानके कार्यरूपी इन्धनको भस्म कर देती है। इसमें श्रुतिकाभी प्रमाण है कि " आत्मानमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम् । ज्ञाननिर्मथनाभ्यासाद्दहेत्कर्म स पण्डितः ॥ " अर्थात् मनको नीचेकी और ओं-

कारको ऊपरकी अरणि बनाकर ज्ञानद्वारा मन्थनसे जो भस्म करता है उसीको पण्डित कहते हैं॥४२॥

जो यह कहो कि पूर्वोक्त उत्पन्न हुई ज्वालासे अज्ञानरूपी इन्धन कैसे भस्म होता है और आवरणरहित आत्माका कैसे प्रकाश होता है उसका उदाहरण आगेके श्लोकमें देते हैं-

अरुणेनेव बोधेन पूर्वसन्तमसे हते। तत आविर्भवेदात्मा स्वयमेवांशुमानिव॥ ४३॥

अन्वयः-बोधेन, अरुणेन, इव, पूर्वसन्तमसे, हते, (सति); तमः, आत्मा, अंशुमान्, इव, स्वयम्, एव, आविर्भवेत्॥ ४३॥

भाषार्थः-जैसे अरुण अर्थात् सूर्यके सारथिके उदय होनेसे प्रथम घनान्धकार दूर हो जाता है उसके पीछे सूर्यका प्रकाश होता है वैसेही प्रथम ज्ञान उदय होनेसे अज्ञानरूपी अंधकार दूर हो जाता

है और फिर आत्मा सूर्यके समान प्रकाशित होता है अर्थात् निर्मल ब्रह्मज्ञानको प्राप्त हो जाता है और ऐसाही श्रीकृष्णचन्द्रजीने गीतामें कहा है कि "ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः । तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ॥" अर्थात् जिनका अज्ञान ज्ञानसे दूर हो गया है उनको ब्रह्मका ज्ञान सूर्यके समान प्रकाशित होता है ॥ ४३ ॥

जो कदाचित् यह कहो कि आत्मा तो साक्षात् अपरोक्ष है अत एव नित्यप्राप्त है फिर जब अज्ञानका नाश हो जाता है तब ब्रह्मकी प्राप्ति होतीहै यह कथन किस प्रकार सत्य हो सक्ता है क्योंकि जो वस्तु नित्यप्राप्त है वह परोक्ष और अप्राप्त कैसे हो सक्ती है इसका समाधान करते हैं सो सुनो—

आत्मा तु सततं प्राप्तोऽप्यप्राप्य-
वदविद्यया । तन्नाशे प्राप्तवद्भाति
स्वकण्ठाभरणं यथा ॥ ४४ ॥

अन्वयः—आत्मा, सततम्, प्राप्तः, अपि, तु,

अविद्यया, अप्राप्यवत्, (भाति); तन्नाशे, यथा, स्वकण्ठाभरणम्, (तथा), प्राप्तवत्, भाति॥४४॥

भाषार्थः—आत्मा ज्ञानदृष्टिसे तो निरंतर प्राप्त है परन्तु वह अविद्यासे अर्थात् अज्ञानके द्वारा अप्राप्तसा दीखता है और अविद्याके नष्ट होनेपर प्राप्तके समान इस प्रकार प्रतीत होता है कि जैसे अपने कंठका आभूषण अर्थात् जब मनुष्यको अज्ञान होता है तब अपने कंठकी माला आदिकी भी सुध नहीं रहती है परन्तु जब ज्ञान होताहै तब माला है ऐसा प्रतीत होता है ॥ ४४ ॥

अब जो यह कहो कि जिसका अपरोक्ष साक्षात्कार है वह ब्रह्मही नित्यप्राप्त है और जीवात्मा नित्यप्राप्त नहीं हो सक्ता तहां उसकी शंका निवारण करते हैं—

स्थाणौ पुरुषवद्भ्रान्त्या कृता ब्रह्मणि जीवता। जीवस्य तात्विके रूपे तस्मिन् दृष्टे निवर्तते॥४५॥

अन्वयः—स्थाणौ, पुरुषवत्, ब्रह्मणि, जीवता, भ्रान्त्या, कृता, (अस्ति); जीवस्य, तस्मिन्, तात्त्विके, रूपे, दृष्टे, निवर्तते ॥ ४९ ॥

भाषार्थः—जैसे जहां अंधकार होता है वहां स्थाणु कहिये काष्ठके ठूंट आदि पदार्थमें मनुष्यकी मिथ्या प्रतीति होने लगती है वैसेही ब्रह्ममें भ्रमसे जीवभाव प्रतीत होता है परंतु 'तत्त्वमसि" आदि महावाक्योंके द्वारा जीवका जो तात्विकरूप अर्थात् सत्यरूप है उसके जाननेसे जीवभाव ऐसे निवृत्त हो जाता है कि जैसे मनुष्यका भ्रम दूर होनेपर स्थाणुका यथार्थ रूप प्रतीत होने लगता है ॥ ४९ ॥

कदाचित् यह कहो कि जो ज्ञानी पुरुष हैं उनकोभी "तेरा" "मेरा" ऐसा लगा रहता है फिर यह बात क्योंकर निश्चय हो कि ज्ञान होनेसे संसारके पदार्थोंसे निवृत्ति होती है इसको कहते हैं—

तत्त्वस्वरूपानुभवादुत्पन्नं ज्ञानमं-

जसा । अहं ममेति चाज्ञानं बाधते दिग्भ्रमादिवत् ॥ ४६ ॥

अन्वयः–तत्त्वस्वरूपानुभवात्, उत्पन्नम्, ज्ञानम्, अञ्जसा, दिग्भ्रमादिवत्, अहम्, मम, इति, अज्ञानम्, बाधते, च ॥ ४६ ॥

भाषार्थः–तत्त्वस्वरूपके अर्थात् तत्त्वमसिआदि महावाक्योंके द्वारा जीव और ब्रह्मकी एकताके अनुभवसे उत्पन्न हुआ जो ज्ञान उससे शीघ्रही दिशाओंके भ्रमके समान अर्थात् जैसे सूर्यके उदय होतेही प्रत्येक दिशा यथायोग्य प्रतीत होती है उसी प्रकार "मैं हूं" "मेरा है" यह जो अज्ञान है सो तभीतक बाधा करता है कि जबतक ज्ञान नहीं होता और ज्ञानके होतेही अज्ञानसंबन्धी जितने विषय हैं उनसे अपने आप निवृत्ति हो जायगी ॥ ४६ ॥

अब ज्ञानी पुरुषोंकी दृष्टिका वर्णन करते हैं–

सम्यग्विज्ञानवान् योगी स्वात्म-

न्येवाखिलं स्थितम् । एकं च सर्व-
मात्मानमीक्षते ज्ञानचक्षुषा ॥ ४७ ॥

अन्वयः—सम्यक्, विज्ञानवान्, योगी, ज्ञानचक्षुषा, अखिलम्, स्वात्मनि, एव, स्थितम्, सर्वम्, आत्मानम्, च, एकम्, ईक्षते ॥ ४७ ॥

भाषार्थः—जिसको संशयविपर्ययरहित साक्षात् दृढ ज्ञान हो उसे योगी कहते हैं और वह योगी अपने ज्ञानरूपी नेत्रोंसे संपूर्ण विश्वको अपनी आत्मामें स्थित और सबको एक आत्मारूप देखता है क्योंकि जितना दृश्य प्रपञ्च आत्मासे भिन्न है वह शशशृंग (खरगोशके सींग) और आकाशपुष्प (आकाशमें उगे पुष्प) इनके समान मिथ्या कल्पित है ॥ ४७ ॥

कदाचित् यह कहो कि संसार तो प्रत्यक्ष दीखता है और इसे ज्ञानी पुरुष आत्मासे भिन्न किस प्रकार देखता है सो कहते हैं—

आत्मैवेदं जगत्सर्वमात्मनोऽन्यन्न विद्यते । मृदो यद्वद्घटादीनि स्वात्मानं सर्वमीक्षते ॥ ४८ ॥

अन्वयः—यद्वत्, घटादीनि, मृदः, (तथा), इदम्, सर्वम्, जगत्, आत्मा, एव, आत्मनः, अन्यत्, न, विद्यते, (अतः, ज्ञानी), सर्वम्, स्वात्मानम्, ईक्षते ॥ ४८ ॥

भाषार्थः—जैसे उपादानकारण मृत्तिकासे बने हुए घटादिक मृत्तिकासे भिन्न नहीं हैं वैसेही यह सम्पूर्ण जगत् उपादानकारण आत्मासे भिन्न नहीं है इसलिये ज्ञानी पुरुष जगत्को आत्मस्वरूपही देखता है। सारांश यह है कि उपादेय अर्थात् घटादि वा जगद्रूपकार्य, सो उपादान कहिये कारकरूप जो मृत्तिका और आत्मा इनसे भिन्नसा प्रतीत होता है किन्तु यथार्थमें भिन्न नहीं वह भिन्न दीखना केवल अज्ञानसे है ॥ ४८ ॥

अब जीवन्मुक्तिका वर्णन करते हैं-

जीवन्मुक्तिस्तु तद्विद्वान् पूर्वोपाधिगुणांस्त्यजेत् । सच्चिदानन्दरूपत्वाद्भवेद्भ्रमरकीटवत् ॥ ४९ ॥

अन्वयः-(या), जीवन्मुक्तिः, तद्विद्वान्, तु, पूर्वोपाधिगुणान्, त्यजेत्; (तदा), सच्चिदानन्दरूपत्वात्, भ्रमरकीटवत्, भवेत् ॥ ४९ ॥

भाषार्थः-जीवन्मुक्त पुरुष तो प्रथम जो जीव और ब्रह्मकी एकता कही है उसे जानकर तत्त्वज्ञानसे पूर्वकथित जो उपाधियोंके गुण हैं उनको श्रवणादि द्वारा मायाके धर्म जानकर ज्ञानसे त्याग देता है फिर जिस प्रकार भृंगी नाम कीडा भ्रमरके भयसे भ्रमर हो जाता है उसी प्रकार ब्रह्मज्ञानीभी उपाधिरहित ब्रह्ममें तन्मय हो सच्चिदानन्दस्वरूप हो जाता है ॥ ४९ ॥

निम्न लिखित श्लोक रामचन्द्रके पक्षमें लगता है

इसलिये जीवन्मुक्त पुरुषको रामचन्द्रावताररूपसे वर्णन करते हैं-

तीर्त्वा मोहार्णवं हत्वा रागद्वेषादिराक्षसान् । योगी शान्तसमायुक्तो ह्यात्मारामो विराजते ॥ ५० ॥

अन्वयः-हि, आत्मारामः, योगी, मोहार्णवम्, तीर्त्वा, रागद्वेषादिराक्षसान्, हत्वा, शान्तसमायुक्तः, विराजते ॥ ५० ॥

भाषार्थः-आत्माके विषें जिसकी स्थिति है ऐसा योगी मोहके समुद्रको (ब्रह्म और जीवात्माकी एकतारूपी पुलके द्वारा) पार करके (शांतिरूप जो सीताजी उनको हरकर ले जानेवाले ऐसे) रागद्वेषादिरूपी राक्षसोंको (शुद्ध अंतःकरणरूपी धनुषमें लगाये हुए विराग आदि बाणोंसे) मारकर शरीरस्थितिरूपी अयोध्यामें अपने निवृत्तिरूपी सिंहासनपर बैठकर प्रकाशित होता है ॥ ५० ॥

अब लक्षणसे जीवन्मुक्तकी अवस्थाका दृष्टान्तसे वर्णन करते हैं—

बाह्यानित्यसुखासक्तिं हित्वाऽऽत्मसुख निर्वृतः। घटस्थदीपवत्स्वच्छः स्वान्तरेव प्रकाशते ॥ ८१ ॥

अन्वयः—(जीवन्मुक्तपुरुषः), बाह्यानित्यसुखासक्तिम्, हित्वा, आत्मसुखनिर्वृतः स्वच्छः (सन्), घटस्थदीपवत्, स्वांतः, एव, प्रकाशते ॥ ८१ ॥

भावार्थः—नेत्र आदि बाहरकी इन्द्रियोंका विषयोंके साथ संबन्ध होनेसे उत्पन्न जो विषयानन्दरूपी अनित्य सुख, उसकी प्रीतिको त्यागकर और आत्माके सुखसे सुखी होकर, स्वच्छरूपसे, ब्रह्मरूप अपने अंतःकरणमें घटके भीतर दीपकके समान प्रकाशमान होता है। और गीतामेंभी यही लिखा है कि " प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान् । आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्त-

द्रोच्यते॥ १॥” अर्थात् हे अर्जुन! जब अपने मनकी सम्पूर्ण कामनाओंको त्याग देता है तब अपने आत्माहीमें संतुष्ट होकर स्थिरबुद्धि कहलाता है॥ ५१॥

उपाधिस्थोऽपि तद्धर्मैर्न लिप्तो व्योमवन्मुनिः। सर्वविन्मूढवत्तिष्ठेदसक्तो वायुवच्चरेत् ॥ ५२ ॥

अन्वयः—उपाधिस्थः, अपि, व्योमवत्, तद्धर्मैः, न, लिप्तः, मुनिः, सर्ववित्, (अपि), मूढवत्, तिष्ठेत्, वायुवत्, असक्तः, चरेत् ॥ ५२ ॥

भाषार्थः—मुनि कहिये वेदान्तशास्त्रका मनन करनेवाला तत्वज्ञानी उपाधियोंमें स्थित होकरभी उपाधियोंके सुख आदि धर्मोंसे ऐसे लिप्त नहीं होता है कि जैसे आकाश धूलसे लिप्त नहीं होता है और यद्यपि सर्वज्ञभी हैं तथापि मूढके समान ठहरे और प्रारब्धानुसार प्राप्त हुए विषयोंमें न लगकर पवनके समान विचरे अर्थात् जैसे पवन सुगन्धित पदार्थोंको

छोडकर विचरता है उसी प्रकार तत्वज्ञानीभी विषयोंको छोड अपने स्वरूपमें विचरे ॥ ५२ ॥

अब ज्ञानीकी विदेह कैवल्यमुक्तिका वर्णन करते हैं.

उपाधिविलयाद्विष्णौ निर्विशेषं विशेन्मुनिः । जले जलं वियद्व्योम्नि तेजस्तेजसि वा यथा ॥ ५३ ॥

अन्वयः-यथा, जले, जलम्, व्योम्नि, वियत्, वा, तेजसि, तेजः, (तथा), मुनिः, उपाधिविलयात्, विष्णौ, निर्विशेषम्, विशेत् ॥ ५३ ॥

भाषार्थः-जैसे जलमें जल अर्थात् जैसे नदी अपना रूप छोडकर समुद्ररूप हो जाती है और आकाशमें आकाश अर्थात् जैसे घटाकाश अपनी उपाधि छोडकर आकाशमें मिल जाता है और तेजमें तेज अर्थात् जैसे दीपकका तेज अपनी उपाधि छोड अग्निमें मिल जाता है उसी प्रकार मुनि अर्थात्

वेदान्तका मनन करनेवाला ज्ञानी पुरुष देह आदि उपाधियोंके नष्ट होनेसे व्यापकरूप परब्रह्ममें सम्पूर्ण रीतिसे लय हो जाता है ॥ ५३ ॥

अब उस परब्रह्मका निरूपण करते हैं कि जिसकी विदेहमुक्तिमें प्राप्ति होती है.

यल्लाभान्नापरो लाभो यत्सुखान्ना-
परं सुखम् । यज्ज्ञानान्नापरं ज्ञानं
तद्ब्रह्मेत्यवधारयेत् ॥ ५४ ॥

अन्वयः—यल्लाभात्, अपरः, लाभः, न; यत्सुखात्, अपरम्, सुखम्, न, यज्ज्ञानात्, अपरम्; ज्ञानम्, न; तत्, ब्रह्म, इति, अवधारयेत् ॥ ५४ ॥

भाषार्थः—जिस परब्रह्मके लाभसे दूसरा लाभ नहीं क्योंकि ब्रह्मके लाभमें सम्पूर्ण जगत्का लाभ अन्तर्गत है और जिसके सुखसे दूसरा सुख नहीं है क्योंकि उसका सुख सर्वोत्तम है और संसारमात्रके सुख उसमें अन्तर्गत है । और जिसके ज्ञानसे कोई

दूसरा ज्ञान नहीं क्योंकि जो ब्रह्मज्ञान मोक्षका कारण है उससे दूसरा कोई श्रेष्ठ हो नहीं सक्ता अत एव ऐसा जो है उसीको ज्ञानी पुरुष ब्रह्मरूप निश्चय करे५४

यद्दृष्ट्वा न परं दृश्यं यद्भूत्वा न पुनर्भवः । यज्ज्ञात्वा न परं ज्ञानं तद्ब्रह्मेत्यवधारयेत् ॥ ५५ ॥

अन्वयः—यत्, दृष्ट्वा, परम्, दृश्यम्, न; यत्, भूत्वा, पुनर्भवः, न; यत्, ज्ञात्वा, परम्, ज्ञानम्, न; तत्, ब्रह्म, इति, अवधारयेत् ॥ ५५ ॥

भाषार्थः—जिस परब्रह्मके देखनेपर अर्थात् साक्षात्कार होनेपर कोई दूसरा पदार्थ देखना नहीं है (क्योंकि ब्रह्म अधिष्ठानरूप है जब वह साक्षात्कार हो गया तो उसमें सम्पूर्ण कल्पित जगत् साक्षात्कार हो जाता है) और जिस ब्रह्मरूप होनेसे फिर दूसरा जन्म संसारमें नहीं होता है । जैसा कृष्णजीने गीतामें लिखा है कि " यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम

परमं मम" अर्थात् जिस ब्रह्ममें जाकर फिर निवृत्त नहीं होता है वही मेरा परमधाम है । और जिसको जानकर कोई दूसरा पदार्थ जाननेके लिये नहीं है (क्योंकि कार्यकी सत्ता कारणसे भिन्न नहीं रहती है कारणके ज्ञानसेही समस्त कार्यका ज्ञान हो जाता है) इसीको ब्रह्म जाने ॥ ५५ ॥

शंका–पूर्वोक्त प्रमाणोंसे यह निश्चित किया कि ज्ञानी विदेह कैवल्य अवस्थामें स्थित होकर परब्रह्मको प्राप्त होता है तो उससे अब ऐसी शंका होती है कि वह ब्रह्म परिछिन्न कहिये एकदेशमें रहनेवाला है अथवा अपरिछिन्न कहिये सर्वव्यापक है । जो यह कहे कि परिछिन्न है तो नाशवान् होनेसे परम पुरुषार्थ सिद्ध नहीं होता है और जो अपरिच्छिन्न कहे तो सर्वव्यापक होनेसे उसकी प्राप्ति नहीं हो सक्ती इसलिये इसका समाधान करते हैं–

तिर्यगूर्ध्वमधःपूर्णं सच्चिदानन्द-

मद्वयम् । अनन्तं नित्यमेकं यत्त-
द्ब्रह्मेत्यवधारयेत् ॥ ५६ ॥

अन्वयः--यत्, तिर्यक्-ऊर्ध्वम्-अधः-पूर्णम्, सच्चिदानन्दम्, अद्वयम्, अनन्तम्, नित्यम्, एकम्, तत्, ब्रह्म, इति, अवधारयेत् ॥ ५६ ॥

भाषार्थः-- जो तिर्यक् अर्थात् पूर्व आदि चारों दिशाओंमें और ऊपर नीचे सर्वत्र पूर्ण है सच्चिदानन्द है अद्वैत है अनन्त कहिये देशकालवस्तुके परिच्छेदसे रहित है और नित्य अर्थात् सत्य है और एक है अर्थात् सजातीय विजातीय और स्वगत इन भेदोंसे रहित है ऐसा जो उसे परब्रह्म निश्चय करे ॥ ५६ ॥

अतद्व्यावृत्तिरूपेण वेदान्तैर्लक्ष्य-
तेऽव्ययम् । अखण्डानन्दमेकं यत्त-
द्ब्रह्मेत्यवधारयेत् ॥ ५७ ॥

अन्वयः--यत्, वेदान्तैः, अतद्व्यावृत्तिरूपेण,

अव्ययम्, अखण्डानन्दम्, एकम्, लक्ष्यते, तत् ब्रह्म, इति, अवधारयेत् ॥ ५७ ॥

भाषार्थः—जो अविनाशी अखण्ड आनन्दस्वरूप अद्वितीय वेदान्तोंकरके अर्थात् तत्वमसि आदि महावाक्योंके द्वारा अतद्व्यावृत्तिरूप कहिये परमार्थरूप जो वृत्ति है उससे जाना जाय वह ब्रह्म है ऐसा निश्चय करे ॥ ५७ ॥

कदाचित् यह कहो कि शास्त्रमें ब्रह्मा आदिकोभी तो अखण्ड आनन्दस्वरूप कहा है फिर यहां केवल ब्रह्मकोही क्यों कहा इस शंकाका समाधान करते हैं—

अखंडानन्दरूपस्य तस्यानन्दलवाश्रिताः । ब्रह्माद्यास्तारतम्येन भवन्त्यानन्दिनोऽखिलाः ॥ ५८ ॥

अन्वयः—तस्य, अखण्डानन्दरूपस्य, आनन्दलवाश्रिताः, अखिलाः, ब्रह्माद्याः, तारतम्येन, आनन्दिनः, भवन्ति ॥ ५८ ॥

भाषार्थः-उस अखण्डानन्दस्वरूपके आनन्दका जो लेश है उसके आश्रित सम्पूर्ण ब्रह्मादिक देवता तारतम्यकरके अर्थात् अपने २ पुण्यके अनुसार न्यून और अधिक आनन्दयुक्त होते हैं अत एव ब्रह्मादिकोंके जो आनंद हैं सो सब ब्रह्मानंदकेही अन्तर्गत हैं और ज्ञानी पुरुष विदेह अवस्थामें स्थित होकर उसीको पाते हैं ॥ ५८ ॥

कदाचित् यह कहो कि वह परब्रह्म कि जिसके आनंदके लेशमें ब्रह्मा आदि सम्पूर्ण देवता आनंदित रहते हैं सो कहां रहता है इसका समाधान करते हैं-

तद्युक्तमखिलं वस्तु व्यवहारस्तदन्वितः । तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म क्षीरे सर्पिरिवाखिले ॥ ५९ ॥

अन्वयः-अखिले, क्षीरे, सर्पिः, इव, अखिलम्, वस्तु, तद्युक्तम्, व्यवहारः, तदन्वितः, तस्मात्, ब्रह्म, सर्वगतम्, (अस्ति) ॥ ५९ ॥

भाषार्थः—जैसे सम्पूर्ण दुग्धमें घृत अभेदरूपसे रहता है वैसेही ब्रह्मकी सत्तासे घटपटादि वस्तु और वचन दान गमनादि सम्पूर्ण व्यवहार होते हैं इसलिये वह ब्रह्म प्रत्येक पदार्थमें अभेदरूपसे व्याप्त है और ऐसाही श्रीकृष्णचन्द्रजीने गीतामें लिखा है "सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।" अर्थात् यह ब्रह्म सब इन्द्रियोंके गुणोंका प्रकाशक और सम्पूर्ण इन्द्रियोंसे रहित है । अत एव ब्रह्म सर्व व्यापक सिद्ध है ॥ ५९ ॥

अब जो यह कहो कि परमात्मा तो सब प्रपञ्चमें अनुगत है फिर उसको प्रपञ्चके धर्मोंका स्पर्श क्यों नहीं होता है तहां कहते हैं—

अनण्वस्थूलमह्रस्वमदीर्घमजमव्ययम् । अरूपगुणवर्णाख्यं तद्ब्रह्मेत्यवधारयेत् ॥ ६० ॥

अन्वयः—(यत्), अनणु, अस्थूलम्, अह्रस्वम्,

अदीर्घम्, अजम्, अव्ययम्, अरूपगुणवर्णाख्यम्, तत्, ब्रह्म, इति, अवधारयेत् ॥ ६० ॥

भाषार्थः—आत्मा सूक्ष्मरूप नहीं है (और श्रुतिमें जो "अणोरणीयान् महतो महीयान्" इत्यादिसे जो सूक्ष्मरूप वर्णन किया है सो केवल इसलिये है कि आत्मा जाननेके योग्य नहीं है) फिर स्थूलभी नहीं है, ह्रस्वभी नहीं है, दीर्घभी नहीं है (तो फिर कैसी है) नित्य है, जन्ममरणरहित है, शुक्लपीतादिरूप और ब्राह्मणादि वर्ण इनसे रहित जो है उसे ब्रह्म जाने ॥ ६० ॥

यद्भासा भासतेऽर्कादिर्भास्यैर्यत्तु न भास्यते । येन सर्वमिदं भाति तद्ब्रह्मेत्यवधारयेत् ॥ ६१ ॥

अन्वयः—यद्भासा, अर्कादिः, भासते, भास्यैः, (सूर्यादिभिः) तु, यत्, न, भास्यते ; येन, इदम्, सर्वम्, (जगत्), भाति, तत्, ब्रह्म, इति, अवधारयेत् ॥ ६१ ॥

भाषार्थः—जिसके तेजसे सूर्य आदि प्रकाशमान होते हैं और प्रकाश करनेके योग्य ऐसे सूर्यादिसे जो प्रकाशित नहीं होता है और जिस करके यह सब जगत् प्रकाशित हो रहा है वह परब्रह्म है ऐसा निश्चय करे ॥ ६१ ॥

स्वयमन्तर्बहिर्व्याप्य भासयन्नखिलं जगत् । ब्रह्म प्रकाशते वह्निप्रतप्तायसपिण्डवत् ॥ ६२ ॥

अन्वयः—ब्रह्म, वह्निप्रतप्तायसपिण्डवत्, अन्तर्बहिः, व्याप्य, अखिलम्, जगत्, भासयन्, स्वयम्, प्रकाशते ॥ ६२ ॥

भाषार्थः—ब्रह्म अग्निसे तप्त लोहेके गोलेके समान भीतर और बाहर व्याप्त होकर सम्पूर्ण जगत्को प्रकाशित करता हुआ स्वयं कहिये आपभी प्रकाशित होता है । जैसे लोहेके गोलेके भीतर बाहर अग्नि व्याप्त है उसी प्रकार ब्रह्म जगत्में व्याप्त है कोई स्थान उससे रहित नहीं है ॥ ६२ ॥

जगद्विलक्षणं ब्रह्म ब्रह्मणोऽन्यन्न किञ्चन। ब्रह्मान्यद्भाति चेन्मिथ्या यथा मरुमरीचिका ॥ ६३ ॥

अन्वयः—ब्रह्म, जगद्विलक्षणम्, ब्रह्मणः, अन्यत्, किञ्चन, न, चेत्, ब्रह्मान्यत्, भाति; (तर्हि), मरुमरीचिका, यथा, मिथ्या ॥ ६३ ॥

भाषार्थः—ब्रह्म जगत्से विलक्षण है और ब्रह्मसे भिन्न कुछ नहीं है और जो ब्रह्मसे भिन्न प्रतीत होता है जैसे घटपटादि पदार्थ सो मृगतृष्णाके समान मिथ्या है, सारांश यह है कि जड मिथ्या दुःखरूप जगत्से सच्चिदानन्दरूप ब्रह्म अलग है अतएव ब्रह्मही सत्य है और सब मिथ्या है॥ ६३॥

दृश्यते श्रूयते यद्यद्ब्रह्मणोऽन्यन्न तद्भवेत्। तत्त्वज्ञानाच्च तद्ब्रह्म सच्चिदानन्दमद्वयम् ॥ ६४ ॥

अन्वयः—यत्, दृश्यते, यत्, (च), श्रूयते,

तत्, ब्रह्मणः, अन्यत्, न, भवेत्, तत्वज्ञानात्, च, तत्, ब्रह्म, सच्चिदानन्दम्, अद्वयम् (प्रतीयते) ॥ ६४ ॥

भाषार्थः—जो कुछ देखनेमें आता है और जो कुछ सुननेमें आता है इत्यादि सो ब्रह्मसे अन्य कुछ नहीं है अर्थात् संपूर्ण ब्रह्मही है और वह ब्रह्म तत्वज्ञानसे सच्चिदानन्द और अद्वैत सिद्ध होता है ॥ ६४ ॥

अब जो यह शंका करो कि जो सच्चिदानंदस्वरूप ब्रह्म सर्वव्यापक है तो सर्वत्र क्यों नहीं दीखता है इस शंकाका समाधान करते हैं—

सर्वगं सच्चिदात्मानं ज्ञानचक्षुर्निरीक्षते । अज्ञानचक्षुर्नेक्षेत भास्वन्तं भानुमन्धवत् ॥ ६५ ॥

अन्वयः—ज्ञानचक्षुः, सर्वगम्, सच्चिदात्मानम्, निरीक्षते, (किन्तु), अज्ञानचक्षुः, भानुम्, अन्धवत्, भास्वन्तम्, (आत्मानं), न, ईक्षेत ॥ ६५ ॥

भाषार्थः—जिन पुरुषोंके ज्ञानरूपी चक्षु हैं उनको सर्वव्यापी सच्चिदानंदरूप दीखता है और जिस पुरुषके अज्ञानरूपी चक्षु हैं अर्थात् जो अज्ञानी है वह उस प्रकाशमान आत्माको ऐसे नहीं देख सक्ता कि जैसे अन्धा पुरुष सूर्यको नहीं देख सक्ता है ॥ ६५ ॥

जो यह शंका करो कि जिनके ज्ञानरूपी नेत्र हैं ऐसे पुरुषोंको विवेकके कारण यद्यपि देहादि इन्द्रियोंमें अध्यासरूप मल दूर हो जाते हैं तथापि पूर्वजन्मके अध्याससे संसारकी वासनाके वशमें होकर " अहं मनुष्यः " (मैं मनुष्य हूं) ऐसा देह-रूपी बंधन प्रतीत होता है तौ फिर आत्मस्वरूपमें स्थित होकर मुक्ति किस प्रकार हो सक्ती है । इसका समाधान करते हैं—

श्रवणादिभिरुद्दीप्तो ज्ञानाग्निपरि-
तापितः । जीवः सर्वमलान्मुक्तः
स्वर्णवद्द्योतते स्वयम् ॥ ६६ ॥

अन्वयः—श्रवणादिभिः, उद्दीप्तः, ज्ञानाग्निपरितापितः, सर्वमलात्, मुक्तः, जीवः, स्वयम्, स्वर्णवत्, द्योतते ॥ ६६ ॥

भाषार्थः—श्रवणादि अर्थात् श्रवण मनन निदिध्यासन इनसे उत्पन्न हुई ऐसी ज्ञानरूपी अग्निसे परितापित कहिये युक्त जो जीव सो सम्पूर्ण मलसे छूटकर अग्निसे तपे हुए सुवर्णके समान स्वयं प्रकाशित होता है। और प्रकाशमान होनेपर उसको "मेरा है" या "मैं हूं" ऐसा अभिमान नहीं रहता है ॥ ६६ ॥

जो यह कहो कि जो आत्मा शुद्ध हो जाता है उसका कैसा रूप होता है और वह कहां उदय होता है और किसे प्रकाशित करता है तहां कहते हैं कि—

हृदाकाशोदितो ह्यात्मा बोधभानुस्तमोपनुत् । सर्वव्यापी सर्वधारी भाति सर्वं प्रकाशते ॥ ६७ ॥

अन्वयः—हृदाकाशोदितः, बोधभानुः, आत्मा, तमोऽपनुत्, (भवति); हि, (आत्मा), सर्वव्यापी, सर्वधारी, भाति; (च), सर्वम्, प्रकाशते ॥ ६७ ॥

भाषार्थः—इस प्रकार जीव और आत्माके ज्ञानसे निर्मल बोधरूपी सूर्य आत्मा हृदयरूपी आकाशमें उदय होकर (अन्तःकरणके मलरूपी) अंधकारको नाश करता है और सबको प्रकाशित करता हुआ स्वयं प्रकाशमान होता है (अब जो बीचमें यह शंका करो कि हृदयरूपी आकाश तौ परिच्छिन्न है और जब वहां आत्माका उदय होगा तौ आत्मा उसके संसर्गसे परिच्छिन्न अर्थात नाशवान् हो जायगा उसका यह समाधान है कि) आत्मा सर्वव्यापी अर्थात् सब जगत्में व्याप्त है और सर्वधारी कहिये जगत्का जो अज्ञान कार्य है, उसका अधिष्ठानरूप है और सबको प्रकाशित करता है और आप प्रकाशमान है । सारांश यह है

कि व्यापकरूप आत्माका भ्रमरूप हृदयाकाश कदापि नाशक नहीं हो सक्ता है ॥ ६७ ॥

अब आत्मतत्त्वज्ञानको तीर्थरूपसे वर्णन करते हैं क्योंकि जो फल संपूर्ण तीर्थ और देवताओंकी सेवाका है उससे अधिक फल आत्मज्ञानरूपी तीर्थका है क्योंकि आत्माकी सेवासे फिर किसीकी सेवाकी आकांक्षा नहीं रहती है। कदाचित् यह कहो कि आत्मज्ञानीभी तो अपने स्वाभाविक पाप दूर करनेको काशी आदि तीर्थोंमें जाते हैं और प्रथम ६६ वें श्लोकमें कह आये हो कि ज्ञानी पुरुष सुवर्णके समान प्रकाशमान और सम्पूर्ण मलसे रहित है सो कैसे हो सक्ता है तहां शंका दूर करते हैं सुनो—

दिग्देशकालाद्यनपेक्षि सर्वगं
शीतादिहृन्नित्यसुखं निरञ्जनम् ।
यः स्वात्मतीर्थं भजते विनिष्क्रियः
स सर्ववित्सर्वगतोऽमृतो भवेत् ॥ ६८ ॥

अन्वयः—यः, विनिष्क्रियः, दिग्देशकालाद्यनपेक्षि, सर्वगम्, शीतादिहृत्, नित्यसुखम्, निरञ्जनम्, स्वात्मतीर्थम्, भजते; सः, सर्ववित्, सर्वगतः, अमृतः, भवेत् ॥ ६८ ॥

भाषार्थः—आत्मज्ञानी पुरुष एकाग्र चित्त होकर पूर्व आदि दिशा और कुरु आदि देश और भूत भविष्यत् वर्तमान काल इन सबकी अपेक्षासे रहित सर्वव्यापकरूप, और शीत और उष्ण इन दोनोंके नाशक और नित्यसुखस्वरूप, और निरंजन अर्थात् मायाके कार्यजगद्रूप मलसे रहित, ऐसे आत्मतीर्थका सब प्रकारकी क्रियाओंको छोड सेवन करता है वह सर्वव्यापक और सर्वज्ञाता होकर अमृतरूप अर्थात् ब्रह्मरूप हो जाता है अत एव मुमुक्षु पुरुषोंको आत्मतीर्थ अवश्य सेवन करना चाहिये और ऐसाही महाभारतमें लिखा है कि—

आत्मानदी संयमपुण्यतीर्था।
सत्योदका शीलतटा दयोर्मिः॥

तत्राभिषेकं कुरु पाण्डुपुत्र ।
न वारिणा शुद्ध्यति चान्तरात्मा ॥ १ ॥

अर्थात् हे युधिष्ठिर ! इन्द्रियोंका रोकनाही जिसका पुण्यतीर्थ है, सत्यही जिसका जल है, शील जिसका तट है और दयाही जिसमें तरंगोंकी माला है ऐसी आत्मरूपी नदीमें स्नान कर क्योंकि केवल जलसेही भीतरकी आत्मा शुद्ध नहीं होती है ॥ १ ॥

औरभी कहा है कि–

स्नातं तेन समस्ततीर्थसलिले दत्ता च सर्वावनिर्य-
ज्ञानां च कृतं सहस्रमखिला देवाश्च संपूजिताः ।
संसाराच्च समुद्धृताः स्वपितरस्त्रैलोक्यपूज्योऽप्यसौ
यस्य ब्रह्मविचारणे क्षणमपि स्थैर्यं मनः प्राप्नु-
यात् ॥ २ ॥

अर्थात् जिस पुरुषका ब्रह्मके विचारमें क्षणभ-रभी चित्त स्थिरताको प्राप्त हो वही मनुष्य सम्पूर्ण तीर्थोंके जलोंमें न्हाया और उसीने सम्पूर्ण पृथिवी

दान करी और उसनेही सहस्र यज्ञ करे और उसीने संपूर्ण देवता पूजे और उसीने अपने पितरोंको संसारसे तारा और वही त्रैलोक्यमें पूजनीय है ॥ २ ॥ ६८ ॥

इति श्रीपश्चिमोत्तरदेशान्तर्गतआगरापत्तनस्थायि-
गुर्जरविप्रकुलोत्पन्न-ज्योतिर्विद्वालमुकुन्दभट्ट-
सूरिसूनुरामेश्वरभट्टकृतया गूढार्थप्रकाशिन्या
भाषाटीकया गुम्फितः श्रीशङ्कराचार्य-
विरचित आत्मबोधः समाप्तः।

त्रिपंचनवचन्द्रान्दे मधुमासेऽम्बिकातिथौ ॥
आत्मबोधस्याऽनुवादो मत्कृतः पूर्णतामियात् ॥ १ ॥

पुस्तक मिलनेका ठिकाना-
गंगाविष्णु श्रीकृष्णदास,
"लक्ष्मीवेंकटेश्वर" छापाखाना,
कल्याण-मुंबई.